आर्यभदन्ताश्वघोषविरचिते

सौन्दरनन्दमहाकाव्ये

पञ्चमः सर्गः

नन्दप्रव्राजनविषयः
मूलान्वयानुवादटीकादिभिः
जान्स्टनमहोदयकृताङ्ग्लानुवादादिभिश्च समन्वितः

डॉ० जिया लाल काम्बोज
प्राध्यापक, संस्कृत विभाग, हिन्दू-कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
: दिल्ली :

मूल्य : १०/-

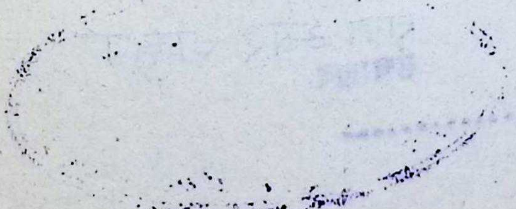

आर्यभदन्ताश्वघोषविरचिते

सौन्दरनन्दमहाकाव्ये

पञ्चमः सर्गः

नन्दप्रव्राजनविषयः
मूलान्वयानुवादटीकादिभिः
जान्स्टनमहोदयकृताङ्गलानुवादादिभिश्च समन्वितः

डॉ० जिया लाल काम्बोज
प्राध्यापक, संस्कृत विभाग; हिन्दू-कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

Bharatiya Vidya Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
: दिल्ली :

प्रकाशक :

ईस्टर्न बुक लिंकर्स

५८२५, न्यू चन्द्रावल रोड, जवाहर नगर, दिल्ली-११०००७

© लेखक

Bharatiya Vidya Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya

प्रथम संस्करण : १९८२ (दिल्ली)

मुद्रक : अमर प्रिंटिंग प्रेस (श्याम प्रिंटिंग एजेन्सी),
८।२५, विजय नगर, दिल्ली-११०००९

SAUNDARANANDA

OF

AŚVAGHOṢA

CANTO V

THE INITIATION OF NANDA

with

Exhaustive General Introduction, Prose-order, Commentary, Notes and Hindi Translation, and **Johnston's** English Translation and Notes

DR. JIYA LAL KAMBOJ
Sanskrit Department,
Hindu College, University of Delhi, Delhi

Eastern Book Linkers
: DELHI :

Published by :
EASTERN BOOK LINKERS
5825, New Chandrawal Road, Jawahar Nagar, Delhi-110007

©Author

First Edition : 1982

Printed by :
Amar Printing Press (Shyam Printing Agency),
8/25, Double Storey, Vijay Nagar, Delhi-110009

विषयानुक्रमणी

क्रमांक	विषय	पृष्ठ
१.	दो शब्द	५
२.	विषयानुक्रमणी	७
३.	भूमिका	१-४६
	१. अश्वघोष का जीवनवृत्त	१-६
	(क) अनेक अश्वघोष	१-४
	(ख) अश्वघोष के माता-पिता	४
	(ग) नाम, विरुद ग्रौर उपाधियाँ	४-५
	(घ) स्थान	५-६
	(ङ) धर्मपरिवर्तन ग्रौर परवर्ती जीवन	६
	२. अश्वघोष का काल	६-११
	३. अश्वघोष की कृतियां	१२-१६
	४. अश्वघोष का व्यक्तित्व	१६-२०
	५. अश्वघोष की दार्शनिक मान्यता	२०-२३
	६. अश्वघोष की धार्मिक सहिष्णुता	२३
	७. सौन्दरनन्द महाकाव्य की कथा	२३-२७
	८. सौन्दरनन्द का काव्य-सौन्दर्य	२७-४६
	(क) रसपरिपाक	२८-३०
	(ख) अलङ्कार-योजना	३१-३५
	(ग) छन्दः-प्रयोग	३५-३७
	(घ) चरित्र-चित्रण	३७-४०
	(ङ) प्रकृति-वर्णन	४०-४२
	(च) भाषा ग्रौर शैली	४२-४६
४.	पञ्चमः सर्गः (नन्दप्रव्राजनम्)	४७-८९
५.	पद्यानुक्रमणी	९१
६.	शुद्धि-पत्र	९२

दो शब्द

बौद्ध धर्मप्रचारक आर्यभदन्त अश्वघोष का नाम संस्कृत-कवि-परम्परा में बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए दिल्ली-विश्वविद्यालय द्वारा बी० ए० (आनर्स) संस्कृत के नवीन पाठ्यक्रम में इस कवि के महाकाव्य सौन्दरनन्द से पञ्चम सर्ग निर्धारित किया गया है। सौन्दरनन्द के अंग्रेजी अनुवाद अनेक उपलब्ध हैं, किन्तु किसी प्रामाणिक हिन्दी-अनुवाद और संस्कृत-टीका का अभाव है। छात्रों की इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुए इस महाकाव्य के पञ्चम सर्ग के मूल-पाठ के साथ अन्वय, टीका, टिप्पणी, भाषानुवाद आदि देकर यह छात्रोपयोगी संस्करण तैयार किया गया है। आरम्भ में महाकवि अश्वघोष के जीवन, कृतियों, काव्यसौन्दर्य आदि का विद्यार्थियों को सम्यग् ज्ञान कराने के लिए विस्तृत भूमिका दे दी गई है। जॉन्स्टन महोदय कृत अंग्रेजी अनुवाद और पाद-टिप्पणियाँ भी जोड़ दी गई हैं। अन्त में श्लोकानुक्रमणी भी दे दी गई है, जिससे इस पुस्तिका की उपयोगिता और अधिक बढ़ गई है।

इस पुस्तक की पाण्डुलिपि तय्यार हो जाने पर मैंने इसे संस्कृत जगत् के मूर्धन्य विद्वान् गुरुवर पूज्यपाद पं० चारुदेव जी शास्त्री को दिखाया। उन्होंने मेरी प्रार्थना पर संस्कृत-टीका में आवश्यक परिवर्तन और परिवर्द्धन करके मुझे अनुगृहीत किया है। मैं उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। जिन अन्य लेखकों की कृतियों से मुझे इस ग्रन्थ के प्रणयन में सहायता मिली है, उनके प्रति भी मैं आभार प्रकट करता हूँ।

ईस्टर्न बुक लिंकर्स के अध्यक्ष श्रीश्यामलाल जी मल्होत्रा इस पुस्तक के मुद्रक एवं प्रकाशक हैं। इन्होंने इस कार्य को चारु रूप से रुचि के साथ निभाया है। एतदर्थ वे मेरी प्रशंसा के पात्र हैं।

मुद्रणकार्य में पुस्तक में कहीं-कहीं अशुद्धियाँ आ गई हैं। उनके संशोधन के लिए पुस्तक के अन्त में शुद्धि-पत्र लगा दिया गया है।

यदि यह छोटा सा ग्रन्थ छात्र-छात्राओं एवं सामान्य अध्येताओं के लिए उपयोगी सिद्ध हो सका तो मैं अपने श्रम को सार्थक समझूंगा।

हिन्दू कालेज
दिल्ली विश्व-विद्यालय,
दिल्ली

प्रिया लाल काम्बोज

भूमिका

१. अश्वघोष का जीवनवृत्त

आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व अश्वघोष का नाम तो कतिपय प्राचीन संस्कृत और पालि ग्रन्थों में सुरक्षित था, परन्तु उसकी कोई भी कृति उपलब्ध नहीं थी। इस महाकवि की कृतियों को प्रकाश में लाने वाले विद्वानों में सर्वप्रथम नाम सेमुअल बील का है जिसने सन् १८८३ ई० में बुद्धचरित का चीनी भाषा से अंग्रेज़ी में अनुवाद प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् १८९३ म कावेल ने इसी कृति के संस्कृत-मूल का प्रथम संस्करण प्रकाशित किया, जिसका अंग्रेज़ी-अनुवाद 'सेक्रिड् बुक्स ऑफ़ दि ईस्ट' ग्रन्थमाला के अन्तर्गत, ४९वें पुष्प के रूप में सन् १८९४ में प्रकाशित हुआ। १९वीं शताब्दी के अन्तिम दशक के प्रारम्भ में एच. लुदर्स को तुर्फ़ान (मध्य एशिया) से बुद्धचरित, शारिपुत्रप्रकरण नामक एक ९ अंकों के प्रकरण और दो अन्य नाटकों की खण्डित प्रतियां प्राप्त हुईं। इनमें से बुद्धचरित का प्रकाशन १८९६ में हुआ। शारिपुत्रप्रकरण का प्रकाशन उन्होंने १९१८ में बेर्लिन से कराया। सन् १८९८ में महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को दरबार पुस्तकालय, नेपाल, से ताड़-पत्रों पर १२वीं शताब्दी के नेवारी अक्षरों में लिखी सौन्दरनन्द-काव्य की एक जीर्ण पाण्डुलिपि मिली। १९०७ में इसी पुस्तकालय से उन्हें नेवारी अक्षरों में काग़ज़ पर लिखी १८वीं शताब्दी की एक अन्य अक्षुण्ण पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। इन दोनों पाण्डुलिपियों के तुलनात्मक अध्ययन से म. हरप्रसाद शास्त्री ने १९१० मे सौन्दरनन्द-काव्य का एक समीक्षात्मक संस्करण 'बिब्लिओथेका इंडिका' ग्रन्थमाला में प्रकाशित कराया, जिसका दूसरा संस्करण १९३९ में प्रकाशित हुआ। डा० इ० एच० जॉन्स्टन द्वारा सम्पादित बुद्धचरित और उसका आंग्ल-अनुवाद १९२७ में जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी (*JRAS*) में प्रकाशित हुआ।

(क) अनेक अश्वघोष

अश्वघोष को कवि, दार्शनिक और बौद्ध धर्मप्रचारक के रूप में जो ख्याति और यश मिला, उसके कारण अनेक अज्ञातनामा कवियों और विचारकों की

कृतियां भी अश्वघोष के नाम के साथ जोड़ दी गई हैं, तथा भारत, तिब्बत और चीन में उसके जीवन से सम्बन्धित इतनी अनुश्रुतियां और किंवदन्तियां प्रचलित हो गईं कि वास्तविकता का पता लगा पाना सरल कार्य नहीं रह गया है। इन असंख्य कृतियों और अनुश्रुतियों का विश्लेषण करते हुए यह भ्रम होना स्वाभाविक ही है कि अश्वघोष एक था, अथवा अनेक। यही कारण है कि कई ग्रन्थों में अनेक अश्वघोषों का उल्लेख मिलता है। तिब्बती इतिहासकार तारनाथ ने तीन अश्वघोषों का संकेत किया है—बड़ा अश्वघोष, छोटा अश्वघोष और शूर अश्वघोष। बील के अनुसार इनमें से प्रथम अश्वघोष ही बोधिसत्त्व अश्वघोष था, जिसने बुद्धचरित की रचना की थी। अश्वघोष की एक सन्देहास्पद रचना श्रद्धोत्पादशास्त्र की टीका में, जिसे नागार्जुनकृत माना जाता है, कहा गया है कि विभिन्न कालों में छः अश्वघोष हुए हैं और इनके अवतीर्ण होने की स्वयं महात्मा बुद्ध ने भविष्य-वाणी की थी। यदि चीनी और तिब्बती परम्पराओं को मिलाकर देखा जाए तो पता चलता है कि अश्वघोष दो हुए हैं—एक बोधिसत्त्व अश्वघोष था जो आर्यदेव द्वारा-बौद्धधर्म में दीक्षित किया गया और दूसरा वह जिसे पार्श्व अथवा उसके शिष्य पुण्ययश के द्वारा बौद्ध धर्म में दीक्षा दी गई।

विमलचरण लॉ ,इन परस्परविरोधी परम्पराओं के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् इस निर्णय पर पहुंचा है कि कम से कम तीन अश्वघोष हुए हैं। (१) महासूत्रालङ्कार-शास्त्र का कर्ता अश्वघोष, जो महात्मा बुद्ध के निर्वाण से ३०० या ३७० वर्ष पश्चात् हुआ, (२) अश्वघोष, जिसे स्थविर अश्वघोष या भिक्षु अश्वघोष कहना अधिक उचित होगा, एक हीनयानी भिक्षु था, पार्श्व अथवा उसके शिष्य का शिष्य था और निर्वाण के ४०० वर्ष के पश्चात् विद्यमान था, और (३) महायान-श्रद्धोत्पादशास्त्र का रचयिता बोधिसत्त्व अश्वघोष जो निर्वाण के ५०० या ६०० वर्ष बाद हुआ है। लॉ का यह भी मत है कि उपर्युक्त तीनों अश्वघोषों की तिथियों को उनमें १०० वर्ष जोड़कर पढ़ा जाना चाहिए, क्योंकि भारतीय बौद्ध परम्पराओं में अशोक और कालाशोक के विषय में भ्रान्ति होने के कारण ये सभी तिथियां १०० वर्ष पूर्व की हैं।[1]

सूत्रालङ्कारशास्त्र, जिसे कुछ विद्वान् अश्वघोष की कृति मानते हैं और सन् ४०५ ई० में जिसका चीनी भाषा में कुमारजीव द्वारा अनुवाद किया गया था, जातकों पर आधारित एक कथा-संग्रह है। कथाओं में प्रायः इस जन्म में पूर्वजन्म के कर्मों के फलभोग का महत्त्व दर्शाया गया है। इसमें पश्चिमी भारत की घटनाओं

---

1. Law, B.C. *Aśvaghoṣa*, Calcutta, 1946, p. 6.

का वर्णन हुआ है। इससे ऐसा विदित होता है कि इसका लेखक पश्चिमी भारत का निवासी था जोकि उपर्युक्त परम्परा के अनुसार प्रथम शती ईसापूर्व में विद्यमान रहा होगा। इस ग्रन्थ में ऐसी कोई बात नहीं जिससे इसे महायान सम्प्रदाय का ग्रन्थ माना जाए। स्थविर अश्वघोष, जिसे स्थविर पार्श्व का शिष्य या प्रशिष्य माना गया है, गन्धार के सम्राट् कनिष्क का समकालीन था। पार्श्व को उत्तरापथ का निवासी मानते हुए भी इस अश्वघोष को मध्यदेश का निवासी बताया गया है। यह धुरन्धर बौद्ध विद्वान् और प्रचारक था और इसका कार्यक्षेत्र मध्यदेश ही था। यद्यपि परम्परा इसकी कृतियों का उल्लेख नहीं करती, तथापि इसे साकेत-निवासी, सुवर्णाक्षीपुत्र अश्वघोष मानने में कोई कठिनाई नहीं है। इसमें दो मत नहीं कि अश्वघोष ने बुद्धचरित और सौन्दरनन्द नामक अपने महाकाव्यों में बुद्ध के जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है वे सब हीनयान के सिद्धान्त हैं। महायान के सिद्धान्तों का उनमें कहीं कोई संकेत नहीं है। यह अश्वघोष समकालिक सांख्य सिद्धान्तों से प्रभावित था। इस प्रकार प्रथम दो अश्वघोष लॉ के अनुसार हीनयानी बौद्ध दार्शनिक थे। तीसरा अश्वघोष जिसे बोधिसत्त्व अश्वघोष अर्थात् महायानी अश्वघोष कहा गया है चार बौद्ध मार्तण्डों में से एक माना गया है। उसे पूर्वदिशा में स्थापित अर्थात् पूर्वी भारत का निवासी माना गया है। वह निर्वाण के ६०० या ७०० वर्ष पश्चात् अर्थात् दूसरी या तीसरी शताब्दी ईस्वी में विद्यमान रहा होगा। उसे तुखार शासक चान-तान-ची-नी-चा का समकालिक बताया गया है। इसका संस्कृत रूप चन्दन कणिष्क, चन्दन कणिक, चन्दन कनिष्ठ या चन्दन कणिट माना जा सकता है। फ़ाहियान और तारनाथ दोनों ने कणिक को यू-ची सम्राट् कणिष्क से भिन्न माना है और उसे पश्चिम भारत में स्थित तिलि और मालव का राजा बताया है। वह चष्टन कणिक हो सकता है। ये सभी घटनाएँ दूसरी या तीसरी शताब्दी ईस्वी की ओर संकेत करतीं हैं।[1]

सिल्वाँ लेवी, नारीमान, विन्तर्नित्स, कीथ आदि विद्वान् अश्वघोषविषयक इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका विचार है कि तीनों अश्वघोष एक ही व्यक्ति है और वह साकेतक, सुवर्णाक्षीपुत्र स्थविर अश्वघोष के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता। इन अश्वघोषों के विषय में तिथियों की भिन्नता की जो बात कही गई है वह भ्रान्ति के कारण है। यह काल चीनी और तिब्बती ग्रन्थों के अनुसार है। उन देशों के यात्री भिन्न भिन्न कालों में जब भारत में आए तो उन्होंने लोगों से जैसा सुना, उसे ही सत्य मानकर अश्वघोष का समय अपने ग्रन्थों में लिख दिया।

1. Law, B.C., *Aśvaghoṣa*, Calcutta, 1946, p. 7.

वस्तुतः कालभिन्नता भ्रान्ति के सिवा कुछ भी नहीं। पहले दो अश्वघोष हीनयानी और तीसरे अश्वघोष के महायानी होने की जो बात कही गई है वह भी निराधार है। वस्तुतः अश्वघोष पहले हीनयान सम्प्रदाय की सर्वास्तिवाद शाखा के अनुयायी थे, बाद में बुद्ध की लोकोद्धारक शक्ति से प्रभावित होकर महायान के अनुयायी बन गए। इस प्रकार **महायानश्रद्धोत्पाद-शास्त्र** को स्थविर अश्वघोष की कृति मानने में कोई दोष उत्पन्न नहीं होता। **सूत्रालङ्कार-शास्त्र** में बुद्धचरित का उल्लेख है[1] और उससे उदाहरण भी लिये गए हैं।[2] कथा १४ और ३१ में कनिष्क का उल्लेख हुआ है और उसे दिवंगत बताया गया है।[3] अतः इसे भी प्रथम शताब्दी ईसापूर्व के अन्त और द्वितीय शताब्दी ईस्वी के प्रारम्भ में विद्यमान कनिष्क के समकालीन स्थविर अश्वघोष की रचना मानना ही उचित है।

(ख) **अश्वघोष के माता-पिता**—अश्वघोष के माता-पिता के विषय में भी परम्पराएँ एकमत नहीं हैं। एक परम्परा के अनुसार उसका जन्म पश्चिमी भारत में लोक नामक व्यक्ति के घर में घोणा नामक स्त्री से हुआ था। तारनाथ उसे संघगुह्य नामक एक धनी ब्राह्मण, जिसने खोर्ता के एक वणिक् की कनिष्ठ कन्या से विवाह किया था, का पुत्र बताते हैं। **सौन्दरनन्द** के अन्त में दी गई पुष्पिका से स्पष्ट है कि वह सुवर्णाक्षी का पुत्र था।[4] तुर्फ़ान (मध्य एशिया) से प्राप्त **शारिपुत्र-प्रकरण** नामक नाटक की खण्डित प्रति के अन्त में मिलने वाली पुष्पिका तथा **बुद्धचरित** के अनुपलब्ध मूल के तिब्बती अनुवाद के आधार पर जॉन्स्टनकृत आंग्ल-अनुवाद से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

(ग) **नाम, विरुद और उपाधियाँ**—बाल्मीकि, व्यास, भवभूति आदि अन्य प्राचीन संस्कृत कवियों की तरह अश्वघोष भी कवि का वास्तविक नाम न होकर गौण नाम प्रतीत होता है। ह्यून्-त्सांग ने, जो कि भारत में ६३० से ६४४ ई० तक ठहरा, अश्वघोष का चीनी रूप मा-मिंग (=अश्वघोष) के अतिरिक्त असु-फ़ो-कु-शा दिया है। इत्सिंग, जिसने सातवीं शताब्दी के अन्त की ओर भारत का भ्रमण किया था, ने भी नागार्जुन और आर्यदेव (=आर्यशूर) के साथ अश्वघोष का आदर के साथ उल्लेख किया है। **आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प** में अश्वघोष को **अकाराख्यो यतिः** 'अकार से प्रारम्भ होने वाले नाम वाला

---

१. Keith, A.B., *History of Sanskrit Literature*, London, 1953, p. 56.
२. Nariman, G.K., *Literary History of Sanskrit Buddhism*, Bombay, 1923, p. 37.
३. De, S.K., *History of Sanskrit Literature*, Calcutta, 1947, p. 73.
४. आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्—**सौन्दरनन्द**; बिब्लिओथेका इंडिका संस्करण, १९३९, पृ० १२६।

भिक्षु' कहा गया है। कुमारजीव ने अश्वघोष की पारम्परिक जीवनी में अश्वघोष नाम की व्याख्या इस प्रकार की है कि मगध में कवि की सुरीली आवाज पर मुग्ध होकर घोड़ों ने घास खाना छोड़ दिया था, इसलिये वह अश्वघोष कहा जाने लगा। कुछ का विचार है कि उसके जन्म के समय घोड़े हिनहिनाए थे, इसलिये उसका नाम अश्वघोष पड़ा। शान्तिभिक्षु ने अश्वघोष शब्द का निर्वचन इस प्रकार किया है—**तत एवाश्वैरनुमोदितो धर्मस्य घोषो यस्य सोऽश्वघोष इति** 'जिसके धर्मघोष का अनुमोदन अश्वों के द्वारा भी किया गया है वह अश्वघोष है।'[1] चीनी भाषा में अश्वघोष के दो अन्य विरुद पुण्यादित्य (कुंग-ते-जिह्) और पुण्यश्री (कुंग-चांग) मिलते हैं। तारनाथ ने उसके लिये अन्य ६ विरुदों का प्रयोग किया है जो इस प्रकार हैं—काल, दूरदर्श, दूरदर्शकाल, मातृचेट, पितृचेट, शूर, धार्मिक, सुभूति और मातृचेट। इनमें से मातृचेट और शूर (आर्यशूर) को अश्वघोष के विरुद नहीं माना जा सकता। मातृचेट एक अन्य विद्वान् थे जिन्हें स्वयं अश्वघोष ने कनिष्क की राजसभा में आमन्त्रित किया था। आर्यशूर जातकमाला ग्रन्थ के रचयिता हुए हैं। अश्वघोष के सौन्दरनन्द आदि प्रामाणिक ग्रन्थों की पुष्पिकाओं में उन्हें भिक्षु, आचार्य, भदन्त, महाकवि और महावादिन् उपाधियों से अलंकृत किया गया है।

(घ) स्थान—महाकवि अश्वघोष का जन्म कहां हुआ और उसने अपना जीवन कहां कहां बिताया—इस विषय में भी कोई प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। बुद्धचरित और सौन्दरनन्द की पुष्पिकाओं में उसे साकेतक कहा गया है। साकेतक के दो अर्थ सम्भव हैं–(१) साकेते जातः 'साकेत में जन्मा हुआ' (तत्र जातः–पा० ४।३।२५), (२) साकेते भवः 'साकेत में विद्यमान' (तत्र भवः–पा० ४।३।५३)। साकेतक शब्द की इन व्युत्पत्तियों से यह निश्चय करना कठिन है कि कवि साकेत में जन्म लेने के कारण साकेतक कहलाता था अथवा साकेत में निवास के कारण। परन्तु यह सम्भव है कि उसका जन्म साकेत में हुआ था और उसका प्रारम्भिक जीवन भी वहीं बीता। **आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प** (५३।६४०) में उसे **साकेतपुरवास्तव्यः** 'साकेत नगर में निवास करने वाला' कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने अपनी युवावस्था में एक शास्त्रार्थ महारथी और बौद्ध धर्मप्रचारक के रूप में भारतवर्ष की सभी दिशाओं में भ्रमण किया था। इसीलिये विभिन्न अनुश्रुतियों में उसे पूर्वी, उत्तरी, उत्तर-पश्चिमी, पश्चिमी और मध्य भारत से सम्बन्धित किया गया है। उसने कामरूप, गौड, ओडिविस (उड़ीसा) की भी यात्रा की थी। ह्यून-त्सांग ने उसके द्वारा पूर्वी भारत में विद्वान् कवि के रूप में ख्याति प्राप्त करने की जो बात कही है, उससे इसकी पुष्टि होती है।

---

१. साहित्य सुषमा, वि० सं० २००६, पृ० १२३।

यद्यपि शारिपुत्रप्रकरण और राष्ट्रपालनाटक के दृश्य पाटलिपुत्र में घटित हुए हैं, परन्तु उसके पाटलिपुत्र के किसी राजा का आश्रित होने के विषय में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि उसके कनिष्क के साथ सम्बन्धित होने की चीनी परम्परा को सही मान लिया जाये तो यह स्वीकार करना होगा कि साकेत और पाटलिपुत्र आदि पूर्वी स्थानों पर निवास करने के पश्चात् वह पुरुषपुर में कनिष्क के दरबार में गया होगा। वहीं उसने अपने महाकाव्यों और नाटकों की रचना की होगी। वहीं से उसकी इन कृतियों को मध्य-एशिया तक ले जाया गया।

(ङ) **धर्म-परिवर्तन और परवर्ती जीवन** : अश्वघोष को जन्म से ब्राह्मण और शिव का उपासक बताया गया है। आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प (५३।६४०) में उसे द्विज कहा गया है। इस तथ्य की पुष्टि उसके काव्यों में प्रदर्शित उसके ब्राह्मण-धर्म सम्बन्धी गहरे ज्ञान से भी होती है। उसके काव्यों में वर्णित उसके स्त्री-सम्बन्धी विचारों से पता चलता है कि भर्तृहरि की तरह युवावस्था में उसके मन को कोई गहरा धक्का लगा और वह बौद्ध भिक्षु बन गया। ह्यून-त्सांग ने कुछ ऐसी अनुश्रुतियों का उल्लेख किया है जिनके अनुसार अश्वघोष सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के स्थविर पार्श्व या उसके शिष्य पूर्ण (अथवा पूर्णाश ?) अथवा पुण्ययशस् का शिष्य था। उसने काव्यकला को बौद्ध धर्म के प्रचार का साधन बनाया। उसने महाकाव्यों और नाटकों की रचना इसी उद्देश्य को सामने रख कर की। कवि होने के साथ साथ वह परले दर्जे का संगीतज्ञ भी था। स्रग्धरा छन्द में रचित गण्डी-स्तोत्र नामक उसके ग्रन्थ से इस तथ्य की भली प्रकार पुष्टि हो जाती है।

आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प (५३।६४०) से पता चलता है कि अश्वघोष ८० वर्ष तक जीवित रहा।

२. अश्वघोष का काल

महाकवि अश्वघोष ने अपनी कृतियों में अपने स्थिति-काल का भी कोई संकेत नहीं किया है तथापि कतिपय बाह्य और आभ्यन्तर साक्ष्यों से हमें कवि के स्थिति-काल का निर्णय करने में सहायता मिल सकती है।

महाकवि अश्वघोष ने बुद्धचरित के अन्तिम सर्ग में अशोक-विषयक एक परम्परा का उल्लेख किया है जिसमें स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सम्राट् अशोक ने महात्मा बुद्ध की अस्थियों को अस्सी हजार भागों में विभक्त कराया था और उन-पर उतने ही स्तूपों का निर्माण कराया था (बु० च० २८।६२-६७)। अश्वघोष ने यह जानकारी निश्चित रूप से अशोकावदान से ली है। प्रोफ़ेसर प्रित्सिलुस्की (Przyluski) के अनुसार अशोकावदान को उसका वर्तमान स्वरूप १५० और १०० ई० पू० में प्राप्त हुआ था। यदि हम यह स्वीकार कर लें कि अशोकावदान को

मान्यता प्राप्त करने में एक विशेष समय लगा होगा, तो हम यह मान सकते हैं कि ५० ई० पू० तक यह ग्रन्थ सर्वत्र विख्यात हो गया होगा और उसके पश्चात् ही अश्वघोष ने यह प्रकरण अशोकावदान से ग्रहण किया होगा।[1] इस प्रकार हम अश्वघोष के स्थितिकाल की ऊपरी सीमा ५० ई० पू० स्वीकार कर सकते हैं।

बुद्धचरित ४०० ईस्वी तक देश विदेश में मान्यता प्राप्त कर चुका था और पांचवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में इसका अनुवाद चीनी भाषा में हो चुका था। इस तथ्य के आधार पर हम अश्वघोष के स्थिति-काल की निचली सीमा ४०० ईस्वी स्वीकार कर सकते हैं।[2]

चीन में एक भारतीय परम्परा सुरक्षित है जिसके अनुसार अश्वघोष पुरुष-पुर के यू ची सम्राट् कनिष्क का धर्मगुरु था।[3] इसकी पुष्टि अनेक वाह्य और आभ्यन्तर साक्ष्यों से होती है।

(क) बाह्य साक्ष्य :—

(१) वसुबन्धु-चरित में अश्वघोष को ज्ञानप्रस्थानशास्त्र के लेखक कात्यायन का समकालिक बताया गया है, जो कि महात्मा बुद्ध के निर्वाण से ५०० वर्ष पश्चात् विद्यमान था।

(२) श्रद्धोत्पादशास्त्र के द्वितीय चीनी अनुवाद की भूमिका में अश्वघोष की गणना बौद्धों के चार सूर्यों में हुई है और यह कहा गया है कि वह महानिर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् संसार में अवतरित हुआ। ह्यू नु-त्सांग के अनुसार वह नागार्जन, आर्यदेव और कुमारलब्ध का समकालिक था। ह्युन्-त्सांग ने इन्हें ही बौद्ध धर्म के चार सूर्य बताया है, जिन्होंने संसार को अपने ज्ञान के प्रकाश से आलोकित किया।

(३) महाप्रज्ञापारमिताशास्त्र के चीनी अनुवादक सांग-यिंग ने भी अश्वघोष को पुराणपन्थता-काल के अन्त की ओर अर्थात् महानिर्वाण से ५०० वर्ष के पश्चात् स्थापित किया है।

(४) फू-त्सो-तुंग-ची नामक ग्रन्थ के खण्ड ५ में भगवान् तथागत द्वारा एक भविष्यवाणी का उल्लेख है जिसमें कहा गया है कि महानिर्वाण के ६०० वर्ष पश्चात् अश्वघोष को धर्म की प्राप्ति होगी। श्रद्धोत्पादशास्त्र के विद्वान् भाष्यकार फ़ा-त्सांग ने इसे एक निरापद तथ्य के रूप में स्वीकार कर लिया है।

(५) एक तिब्बती परम्परा के अनुसार अश्वघोष एक महायानी स्थविर था और उसे उत्तरी भारत में बहुत सम्मान प्राप्त था। वह निर्वाण से ४०० वर्ष के

---

१. Johnston, E.H., *The Buddhacarita*, Intro., p. xvii.
२. वही, p. xiii.
३. Shastri, H.P., *Saundrananda Kāvya*, Preface, p. xxi

पश्चात् विद्यमान पह्लव और खिल्ली के राजा कनिष्क का समकालीन था। इसके अनुसार ज्ञानयश को अश्वघोष का पट-शिष्य बताया गया है।

उपर्युक्त सभी परम्पराओं में अश्वघोष का काल महानिर्वाण से ४००, ५०० या ६०० वर्ष बाद का बताया गया है। बौद्ध परम्परा में अशोक और कालाशोक में भ्रान्ति के कारण इनमें १०९ वर्ष और जोड़ देना चाहिये। महात्मा बुद्ध का निर्वाण ४८६ ई० पू० में हुआ था। इस प्रकार अश्वघोष का काल प्रथम शताब्दी का उत्तरार्द्ध अथवा दूसरी शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है। कनिष्क का शासन काल भी ७८-१५० ई० है! इस प्रकार अश्वघोष कनिष्क के समकालीन सिद्ध हो जाते हैं।

(६) त्सा-पाओ -त्सांग-चिंग (संयुक्तरत्नपिटक?) की एक परम्परा के अनुसार विश्वास किया जाता है कि सम्राट् कनिष्क की सभा तीन रत्नों से सुशोभित थी। एक बोधिसत्त्व अश्वघोष था, दूसरा मो-चा-ला (माठर) नामक मन्त्री था और तीसरा चरक-संहिता का लेखक चरक नामक वैद्य था।

(७) फ़ू-फ़ो-त्सान-चूग्रान (धर्मपिटक, खण्ड ५) नामक चीनी ग्रन्थ में उल्लेख है कि कनिष्क अश्वघोष को पाटलिपुत्र से अपनी राजधानी गन्धार ले गया था।

(८) अश्वघोष को पार्श्व का या उसके शिष्य का शिष्य बताया गया है। पार्श्व कनिष्क का धर्मगुरु था। अतः अश्वघोष कनिष्क का समकालीन था।

(९) अश्वघोष काश्मीर में आयोजित सर्वास्तिवाद अथवा हीनयान परिषद् के अध्यक्ष का समकालीन और सहयोगी था।

(१०) अशोक के सारनाथ में स्थित स्तम्भलेख पर एक अन्य लेख उत्कीर्ण है, जिसमें ४०वें वर्ष में राजा अश्वघोष से सम्बन्धित कुछ उल्लेख हैं। यह ४०वां वर्ष सम्भवतः कनिष्क के शासन से सम्बन्धित है। प्राचीन काल में बौद्ध भिक्षु राजा अथवा महाराजा की पदवी धारण करते थे। यदि यह सत्य है तो महाकवि अश्वघोष का सम्राट् कनिष्क का समकालीन होना सिद्ध हो जाता है।

(११) ईस्वी सन् के प्रारम्भिक काल की मूर्तिकला और वास्तुकला में दिखाई देने वाले अश्वघोष के प्रभाव से भी उसका काल निश्चित करने में सहायता मिलती है। हम देखते हैं कि नागार्जुनकोण्डा के कुछ स्तम्भाधारों, यवन और बौद्ध प्रभाव से युक्त गन्धार के कुछ स्तम्भों और अमरावती से मिलने वाले एक जम्ब पर सौन्दरनन्द के दृश्य अंकित हैं। यदि हम इन कलाकृतियों को दूसरी शताब्दी में रखें तो अश्वघोष का काल इससे ५० या सौ वर्ष पूर्व होना चाहिए।

(ख) आभ्यन्तर साक्ष्य :—

(१) अश्वघोष के शारिपुत्रप्रकरण की खण्डित पाण्डुलिपि के अक्षरों की सावधानी से परीक्षा करने से विद्वान् इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि यह प्रति इस

ग्रन्थ की मूल प्रति है जो कुषाणकाल में सम्भवतः कनिष्क या हुविष्क के शासन के समय भारत में लिखी गई और कालान्तर में किसी प्रकार मध्य-एशिया में चली गईं। कुषाण-काल के अन्तिम समय में किसी विद्वान् ने इसका पुनरीक्षण किया जो कि उस द्वारा प्रयुक्त मध्यएशियाई ब्राह्मी अक्षरों की बनावट से बिल्कुल स्पष्ट है। सरकंडे की लेखनी से गहरी काली स्याही के साथ लिखे हुए तालीपत (तालपत्रों) की जीर्ण-शीर्ण दशा से भी इसकी पुष्टि होती है।

(२) शारिपुत्रप्रकरण की खण्डित प्रति में मागधी, अर्धमागधी और शौर-सेनी इन तीन प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। वर्णमाला और शब्दरूपों की प्राचीनता की दृष्टि से ये प्राकृतें पालि भाषा से मेल खाती हैं, तथा रामायण-महाभारत काल और लौकिक संस्कृत काल के मध्य के अभिलेखों की प्राकृतों से इनका बहुत साम्य है। अश्वघोष की प्राकृतें भरत के नाट्यशास्त्र में मान्यता-प्राप्त प्राकृतों से स्पष्ट रूप से प्राचीन हैं। अश्वघोष, भरत और भास द्वारा प्रयुक्त अर्धमागधी कालान्तर के नाटकों में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार अश्वघोष, भरत और भास में महाराष्ट्री का भी प्रभाव है। इस तरह अश्वघोष द्वारा प्राचीन मागधी, अर्धमागधी तथा शौरसेनी का प्रयोग और महाराष्ट्री का अप्रयोग उसकी कालिदास और भरत से प्राचीनता सिद्ध करता है।

(३) अश्वघोष अनेक स्थानों पर पाणिनि के व्याकरण-नियमों का पालन करता हुआ दिखाई नहीं देता और रामायण तथा महाभारत से स्पष्ट रूप से प्रभावित प्रतीत होता है, तथापि सब मिलाकर रूप और गठन की दृष्टि से उसकी संस्कृत लौकिक संस्कृत की स्थिति में पहुँची हुई है। रामायण और महाभारत का गहरा प्रभाव पाणिनीय व्याकरण के नियमों का अनेकशः उल्लङ्घन और कतिपय अप्रचलित शब्दों का प्रयोग अश्वघोष को रामायण और महाभारत के काल के निकट ले जाता है।

(४) अश्वघोष के काव्यों की शैली रामायण और महाभारत की तरह सरल, सरस और स्वाभाविक है। उसमें प्रयाससाध्यता की गन्ध तक नहीं। चरित्र-चित्रण, विविध वर्णनों, संवादों और आलंकारिक प्रयोगों पर इन दोनों महाग्रन्थों की पूरी छाप है। बुद्धचरित में वाल्मीकि को पद्य का आविष्कारक बताकर (वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यम्—१।४३) उसके प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है। इसके अतिरिक्त रामायण और महाभारत के असंख्य पात्रों और घटनाओं का अश्वघोष ने अपने काव्यों में उल्लेख किया है। अतः अश्वघोष लौकिक संस्कृत के उस प्रारम्भिक काल में विद्यमान रहा होगा जब काव्य की वर्णन-शैली में तिङन्त रूपों का मुख्य स्थान था और विशेषणबाहुल्य आलङ्कारिक शैली को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था।

(५) अश्वघोष के काव्यों और नाटकों की तकनीक की पूर्णता से पता चलता है कि वह ईस्वी सन् से पूर्व विद्यमान काव्य तथा नाटक के किन्हीं प्राचीन सिद्धान्तों से परिचित थे। इसके विपरीत भरत (द्वितीय शताब्दी ई०) ने अपने नाट्यशास्त्र और दण्डी (सप्तमी शताब्दी ई०) ने अपने काव्यादर्श में वर्णित सिद्धान्तों का प्रणयन अश्वघोष के नाटकों और काव्यों के आधार पर किया था। अतः अश्वघोष का काल भरत के काल अर्थात् द्वितीय शताब्दी ई० से पूर्व होना चाहिये

(६) अश्वघोष ने सौन्दरनन्द और शारिपुत्रप्रकरण में जिन प्राचीन सम और विषम छन्दों का प्रयोग किया है वे अपने लक्षणों सहित पिङ्गल (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) के छन्दःसूत्र और भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध हैं। उदाहरण के लिये सौन्दर० १२।४३ और १३।५६ की तुलना भरत के ना० शा० १५।९१-९२ से की जा सकती है जहाँ शरभा छन्द (म भ न त ग ग=१४ अक्षर) का प्रयोग किया गया है। कालान्तर में श्रीधरा और मन्दाक्रान्ता का विकास इसी वृत्त से हुआ। सौन्दर० ७।५२ की तुलना ना० शा० १५।११७-१८ के चित्रलेखा (म त न य य य=१८ अक्षर) और पिङ्गल के छन्दःसूत्र ७।२० के कुसुमित-लता-वेल्लिता से की जा सकती है। इसी प्रकार सौन्दर० २।६४-६५ में प्रयुक्त वर्धमान (म स ज भ ग ग। स न ज र ग। न न स न न स। न न न ज य=१४+१३+१८+१५) पिङ्गल छ० सू० का ५।२८ है। इस प्रकार छन्दों की प्राचीनता के आधार पर हम अश्वघोष को पिङ्गल (द्वितीय शताब्दी ई० पू०) और भरत (द्वितीय शताब्दी ई०) के मध्य स्थापित कर सकते हैं।

(७) अश्वघोष ने बुद्धचरित में जिस सांख्ययोगदर्शन का पूर्वपक्ष के रूप में वर्णन किया है वह बुद्ध से पूर्व मान्यताप्राप्त और महाभारत में वर्णित वह सेश्वर सांख्ययोग है जिसमें २३ तत्त्वों के अतिरिक्त २४वां अव्यक्त तत्त्व क्षरपुरुष अर्थात् जीवचैतन्य, २५वां तत्त्व निर्गुण-क्षेत्रज्ञ और २६वां तत्त्व परब्रह्म स्वीकार किया गया है। अश्वघोष ने जैगीषव्य, जनक और वृद्ध-पराशर का सांख्ययोग के प्रसिद्ध और जीवन्मुक्त आचार्यों के रूप में उल्लेख किया है, जोकि बुद्ध के बोधि-प्राप्ति से बहुत समय पूर्व विद्यमान थे। ऐसा प्रतीत होता है कि शारिपुत्र अश्वजित् द्वारा बौद्ध धर्म में दीक्षित होने से पूर्व सांख्ययोग का अनुयायी था। महाभारत के इस आस्तिक सांख्ययोग के अवशेषों को अश्वघोष, चरक तथा मनु के ग्रन्थों और व्यास के योगभाष्य में ढूंढा जा सकता है। यह आस्तिक सांख्य ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका में वर्णित नास्तिक सांख्य से कई मौलिक बातों में भिन्न है। ईश्वरकृष्ण का काल ३०० ई० माना जाता है। अतः अश्वघोष का काल २०० ई० से पूर्व होना चाहिए।

(८) अश्वघोष की कृतियों में वर्णित बौद्ध सिद्धान्तों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वह हीनयान और महायान के मध्यवर्ती सक्रमण-काल में विद्यमान था।

वह उत्तरकालीन माध्यमिक शून्यवाद और योगाचार विज्ञानवाद से अभिज्ञ नहीं है। उसे पारमिता सिद्धान्तों और त्रिकाय सिद्धान्त की भी जानकारी नहीं थी। उसके प्रामाणिक ग्रन्थों के सूक्ष्म अध्ययन से यह भी पता चलता है कि उसे सुखावती सिद्धान्त का भी पता नहीं था। वह महासांघिक जैसे किसी ऐसे हीनयानी सम्प्रदाय का अनुयायी था जो शनैः शनैः महायान में विकसित होता जा रहा था। उसने पूर्ववर्ती हीनयान के धर्मग्रन्थों का गम्भीरता से अध्ययन किया था। इसी से उसे अपने ग्रन्थों के लिये सामग्री मिली और उसका ऐतिहासिक दृष्टिकोण परिपुष्ट हुआ। बढ़ते हुए महायान से उसे बुद्ध-भक्ति और मानव मात्र के निःस्वार्थ कल्याण-भाव के सशक्त संस्कार प्राप्त हुए। अश्वघोष के ग्रन्थों में लभ्यमान बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के विकास की इस स्थिति से पता चलता है कि वह शून्यवाद को व्यवस्थित रूप देने वाले नागार्जुन (१५० ई०), कुमारलात (द्वितीय शताब्दी) और कथाओं के माध्यम से पारमिताओं की व्याख्या करने वाले आर्यदेव (तृतीय शताब्दी) का पूर्ववर्ती था। इसके आधार पर हम उसे १०० ई० के लगभग रख सकते हैं।

(९) बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये लिखे गए, परन्तु लौकिक सौन्दर्य से परिपूर्ण, अपने महाकाव्यों और नाटकों में अश्वघोष ने जिस आलंकारिक शैली का प्रयोग किया है उससे पता चलता है कि महासाङ्घिक सम्प्रदाय का अनुयायी और उपदेशक कवि उस काल में विद्यमान था जबकि धर्म के क्षेत्र में अङ्गुत्तरनिकाय द्वारा सभी प्रकार की कलाओं पर लगाया गया प्रतिबन्ध शिथिल हो चुका था। इसीलिये सौन्दरनन्द में नन्द और सुन्दरी के प्रेम का मार्मिक और विस्तृत चित्रण हुआ है। बुद्धचरित में भी रनिवास की अनुपम सुन्दरियों और मार की मानव शरीरधारिणी पुत्रियों की गुप्त प्रेम क्रीडाओं का वर्णन है। वेश्या, विदूषक, दुष्ट आदि से युक्त और शृङ्गारिक दृश्यों तथा इसी प्रकार की अन्य अपरिहार्य सामाजिक बातों से परिपूर्ण शारिपुत्रप्रकरण की रचना और मञ्चन से कवि के परम्परा के प्रति विद्रोह और साहस का पता चलता है। प्रतिभावान् कवि ने अपने काव्यों में इस लौकिक तकनीक और शृङ्गारात्मकता का प्रयोग शृङ्गार का निराकरण करके शान्त की स्थापना के लिये एक उपकरण के रूप में किया है। धर्मप्रचार के लिये ऐसे कलात्मक तकनीक की अनुमति ईस्वी सन् के उस प्रारम्भिक काल में सम्भव हुई होगी जब पुराणपन्थता का स्थान वह लोकप्रिय भक्ति लेती जा रही थी जिसमें कला के माध्यम से मूल सिद्धान्तों के प्रचारपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था। इस प्रकार हम अश्वघोष को ईसा की प्रथम या द्वितीय शताब्दी में रख सकते हैं।[1]

इन सभी बाह्य और आभ्यन्तर साक्ष्यों के आधार पर हम कह सकते हैं कि महाकवि अश्वघोष प्रथम शताब्दी के अन्तिम पाद अथवा द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में विद्यमान थे।

1. Bhattacharya, B.N., *Aśvaghoṣa*, Santiniketan, 1976, pp. 14-20.

३. अश्वघोष की कृतियां

अनेक कृतियों को अश्वघोष के नाम के साथ जोड़ दिया गया है और उनमें से बहुतों के विषय में अब यह निर्णय कर पाना बहुत कठिन है कि वे अश्वघोषकृत हैं या नहीं। बिमलचरण लॉ ने अनेक विद्वानों और परम्पराओं द्वारा स्वीकृत अश्वघोष की कृतियों की कुछ सूचियां अपने ग्रन्थ अश्वघोष (पृष्ठ २-३) में दी हैं। चीनी त्रिपिटक में आठ विभिन्न कृतियों के अनुवाद हैं और उन सभी को कवि अश्वघोष की कृतियां बताया जाता है। बुन्यु नान्जिओ कृत बौद्ध त्रिपिटक के चीनी अनुवाद की पुस्तक-तालिका के अनुसार अश्वघोष छः ग्रन्थों का कर्ता माना गया है।

अश्वघोष से सम्बन्धित सभी ग्रन्थों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(क) प्रामाणिक ग्रन्थ और (ख) संदिग्ध प्रामाणिकता वाले ग्रन्थ।

(क) प्रामाणिक ग्रन्थ

(१) बुद्धचरित महाकाव्य : बुद्धचरित मूलतः २८ सर्गों का महाकाव्य था। इसकी पुष्टि इत्सिग के कथन एवं चीनी और तिब्बती संस्करणों से होती है। अब संस्कृत में केवल १४ सर्ग उपलब्ध हैं, जिनका सम्पादन जॉन्स्टन महोदय द्वारा १९२८ में किया गया है। प्रथम सर्ग के आरम्भ के ७ पद्य और २५ से ४० तक १६ पद्य भी उपलब्ध नहीं, तथा १४वां सर्ग भी अधूरा है और उसके केवल ३१ पद्य ही उपलब्ध हैं। १९वीं शताब्दी के आरम्भ में अमृतानन्द द्वारा इसे १७वें सर्ग तक पूरा किया गया था। बुद्धचरित के प्रथम पांच सर्गों में जन्म से लेकर अभिनिष्क्रमण तक की कथा वर्णित है। द्वितीय सर्ग में अन्तःपुरविहार, तृतीय सर्ग में संवेगोत्पत्ति, चतुर्थ सर्ग में स्त्रीनिवारण और पञ्चम सर्ग में अभिनिष्क्रमण का वर्णन काव्यकला की दृष्टि से बहुत सुन्दर बन पड़ा है। षष्ठ और सप्तम सर्गों में कुमार का तपोवनप्रवेश, अष्टम में अन्तःपुर का विलाप, नवम में कुमार के अन्वेषण का प्रयास, दशम में कुमार का मगधगमन, एकादश में कामनिन्दा, द्वादश में अराड ऋषि के पास शान्ति के लिये गमन, त्रयोदश में मारपराजय और चतुर्दश में बुद्धत्व-प्राप्ति का वर्णन हुआ है। सर्ग १५ से सर्ग २८ तक का अंश, जो० डा० जॉन्स्टन द्वारा चीनी और तिब्बती संस्करणों के आधार पर आंग्ल अनुवाद के रूप में तैयार किया गया है, बुद्ध के शिष्यों, सिद्धान्तों, उपदेशों तथा अशोक के काल पर्यन्त बौद्ध संघ की स्थिति का चित्रण प्रस्तुत करता है।

यद्यपि अश्वघोष ने बुद्ध की जीवनी को बुद्धचरित में एक महाकाव्य के रूप में निबन्धन करने का स्तुत्य प्रयास किया है और कई वर्णन अनुपम बन पड़े हैं परन्तु उनमें धार्मिक दार्शनिकता का इतना अधिक समावेश हो गया है कि काव्यत्व दर्शन के बोझ के नीचे दब जाने के कारण पूर्ण रूप से विकसित नहीं हो पाया है। काव्यकौशल प्रदर्शन की दृष्टि से कवि को अपनी दूसरी कृति सौन्दरनन्द में अधिक

सफलता मिली है।

(२) सौन्दरनन्द महाकाव्य : सौन्दरनन्द १८ सर्गों का पूर्ण महाकाव्य है। बुद्ध के सौतीले भाई नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी की कथा को आधार बनाकर कवि ने बुद्ध के समस्त उपदेश को इसमें समाहित कर दिया है। इस ग्रन्थ के प्रणयन का उद्देश्य ही महात्मा बुद्ध के उपदेशों की व्याख्या और प्रचार प्रतीत होता है। इसीलिये कवि ने दुरूह दार्शनिक तथ्यों को उपमाओं के द्वारा सरल एवं सर्वग्राही बना दिया है। (इसकी विस्तृत कथा आगे दी जाएगी)।

(३) शारिपुत्रप्रकरण : इसका पूरा नाम शारद्वतीपुत्रप्रकरण है। यह ९ अंकों का प्रकरण है। प्रोफ़ेसर लुदर्स को १९११ में मध्यएशिया में तुर्फ़ान से इसकी पाण्डुलिपि के अवशेष तालपत्रों पर प्राप्त हुए थे। इस प्रकरण की घटनाओं में महात्मा बुद्ध द्वारा मौद्गल्यायन और शारिपुत्र अथवा शारद्वतीपुत्र को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने का वर्णन है। पाण्डुलिपि की प्रति खण्डित और जीर्णशीर्ण होते हुए भी सौभाग्य से बुद्धचरित और सौन्दरनन्द की तरह इसकी पुष्पिका सुरक्षित है, जिससे इसके महाकवि अश्वघोष की कृति होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। इस खण्डित प्रति में पात्र के रूप में प्राकृतभाषी विदूषक, अंकों में विभाजन, साहित्यिक प्राकृतों के प्रयोग, उत्तम छन्दोयोजना तथा नाट्यकला-सम्बन्धी अन्य बातों से यह सिद्ध होता है कि अश्वघोष के काल में संस्कृत नाटक बहुत विकसित अवस्था में था।

(४) राष्ट्रपाल नाटक : दो पाण्डुलिपि परम्पराओं में सुरक्षित शारिपुत्र-प्रकरण के विपरीत राष्ट्रपालनाटक का पता कुछ बौद्ध, ब्राह्मण और जैन ग्रन्थों में उपलब्ध उद्धरणों से चला है। ये ग्रन्थ हैं (क) चीनी पिटिक के अन्तर्गत फ़ू-फ़ा-त्सांग-मिन्-युआन्-चुआन्, (ख) धर्मकीर्ति द्वारा बौद्ध न्याय (logic) के निग्रहस्थान पर लिखा वाद-न्याय नामक ग्रन्थ, (ग) जैन भाण्डार जेसलमेर में सुरक्षित शङ्करभट्ट के पुत्र चक्रधर द्वारा जयन्तभट्ट (९०० ई०) की न्यायमञ्जरी पर न्यायमञ्जरी-ग्रन्थिभङ्ग नामक एक विषमपदव्याख्या आदि। राष्ट्रपाल नाटक का कथानक मज्झिमनिकाय रट्ठपालसुत्त पर आधारित है। यह अश्वघोष की प्रामाणिक कृति है जिसमें शान्तरस अङ्गी है और निर्वेद के लोकप्रिय उपदेश का प्राधान्य है। जहाँ शारिपुत्रप्रकरण में शारिपुत्र और मौद्गल्यायन के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने का वर्णन है, वहाँ राष्ट्रपाल नाटक में राष्ट्रपाल के बौद्धधर्म को स्वीकार करने का वर्णन है। ये तीनों बुद्ध के मुख्य शिष्य थे। इन तीनों को क्रमशः धर्मसेनापति, ऋद्धिविकल्पेश्वर और अग्रो भिक्षूणां श्रावकाणाम् पुकारा गया है।[1] इन दो नाटकों की रचना करके अश्वघोष ने बुद्ध के तीन मुख्य शिष्यों के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की प्रक्रिया को पूरा कर दिया है।

1. Bhattacharya, B.N., *Aśvaghoṣa : A Critical Study*, pp. 101-126.

(ख) संदिग्ध प्रामाणिकता वाले ग्रन्थ :

इन ग्रन्थों को हम दो भागों में विभक्त कर सकते हैं, एक वे जो मूल संस्कृत में उपलब्ध हैं और जिनमें से किन्हीं का चीनी या तिब्वती अनुवाद उपलब्ध है और किन्हीं का नहीं है, और दूसरे वे जिनके केवल चीनी और तिब्वती अनुवाद उपलब्ध हैं, संस्कृत के मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं।

(I) मूल संस्कृत में उपलब्ध ग्रन्थ :

(१) **वज्रसूची :** संस्कृत की पुष्पिका इस ग्रन्थ को किसी सिद्धाचार्य अश्वघोष की कृति बताती है (कृतिरियं सिद्धाचार्याश्वघोषपादानामिति)। इसी ग्रन्थ का चीनी संस्करण संस्कृत मूल कृति को फ़ा-चान अर्थात् धर्मयशस् से सम्बद्ध करता है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद ९७३ और ९८१ ई० के मध्य फ़ा-थीन् के द्वारा किया गया था। इत्सिग ने अपने संस्मरणों में इस ग्रन्थ का उल्लेख नहीं किया है। संस्कृत वज्रसूची जन्म पर आधारित प्रचलित ब्राह्मणत्व पर तीखा प्रहार करके सच्चे ब्राह्मण लक्षणों की स्थापना करती है। इस ग्रन्थ में सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि लेखक अपने पक्ष में धम्मपद आदि बौद्ध ग्रन्थों की बजाय श्रुतियों, मनु आदि स्मृतियों, महाभारत, हरिवंश और अन्य पुराणों को प्रचुरता से उद्धृत करता है। इससे उसके ब्राह्मण धर्म की ओर झुकाव का पता चलता है। अतः यह कहना उचित नहीं है कि वज्रसूची वेदों के निराकरण के लिये लिखा गया ग्रन्थ है। सबसे बड़ी रोचक बात यह है कि बौद्ध वज्रसूची की तरह एक छोटा हिन्दु वज्रसूच्युपनिषद् भी शङ्कराचार्य के नाम से प्रसिद्ध है। दोनों ही ग्रन्थ समुचित ब्राह्मणलक्षण के वास्तविक महत्त्व को स्पष्ट करते हैं। वस्तुतः बौद्ध वज्रसूची सुवर्णाक्षीपुत्र अश्वघोष की कृति प्रतीत नहीं होती।

(२) **गण्डी स्तोत्रगाथा :** इस ग्रन्थ का संस्कृत-मूल चीनी लिप्यन्तर और तिब्वती अनुवाद की सहायता से तैयार किया गया है। इसमें कुल २९ पद्य हैं जो चार लौकिक छन्दों में रचे गए हैं। ये चार छन्द स्रग्धरा १६, शार्दूलविक्रीडित ८, वसन्ततिलका ४, और इन्द्रवज्रा १ हैं। इस ग्रन्थ में पुष्पिका का अभाव है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है यह लघुकाव्य बौद्ध विहार के घण्टे की स्तुति में लिखा गया है। गण्डी एक लम्बा, समरूप लकड़ी का टुकड़ा होता है जिसपर एक छोटा लकड़ी का डण्डा मारने से अनेक प्रकार की ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। इन ध्वनियों को काव्य में धर्मसन्देश वाहक भम्भम्, भिम्भिम् आदि निरर्थक शब्दों से व्यक्त किया गया है। पहले ११ पद्यों में बुद्ध की स्तुति और उसे नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् गण्डी के स्वरूप, कार्य और अलौकिक प्रभाव का वर्णन है। २०वें पद्य में उल्लेख है कि कश्मीर में ध्वंस-शंका के भय से ग्रस्त बौद्ध धर्म का गण्डी के प्रभाव से पुनरुद्धार हुआ। केवल तिब्वती अनुवाद ही मूल संस्कृत कृति को अश्वघोष की

रचना बताता है, परन्तु इसकी कृत्रिम शैली को देखते हुए इसे अश्वघोष की कृति नहीं माना जा सकता।

(३) नैरात्म्य-परिपृच्छा : इस ग्रन्थ की संस्कृत मूलप्रति नेपाल से प्राप्त हुई थी और उसे १९२८ में सिल्वां लेवी ने फ्रेंच अनुवाद के साथ सम्पादित किया था। इस ग्रन्थ के कुछ भिन्नता के साथ और भी नाम मिलते हैं। इसके दो चीनी और एक तिब्बती अनुवाद उपलब्ध है। इसमें परमार्थ (=शून्य) और संवृति (आपात सत्ता) के मध्य भेद स्पष्ट किया गया है। प्रज्ञापारमिता के साररूप तथता के महायानी सिद्धान्त का जिस सूक्ष्मता और विस्तार के साथ इस ग्रन्थ में विवेचन हुआ है उसका अश्वघोष के प्रामाणिक ग्रन्थों में नितान्त अभाव है। सौन्दरनन्द (१७।१९-२१) में शून्य, निरात्मक काय, समग्रता की प्रवृत्ति वाले जगत् आदि के उल्लेख उपलब्ध हैं, परन्तु उसमें नैरात्म्य-परिपृच्छा के तृतीय कोटिस्थ शून्य अथवा परमार्थ और नागार्जुन के माध्यमिकवाद के पञ्चम कोटिस्थ शून्य की तकनीकी सूक्ष्मता का नितान्त अभाव है, अतः इसे सुवर्णाक्षीपुत्र अश्वघोष की कृति नहीं माना जा सकता। वैसे भी इसे केवल एक चीनी अनुवाद में ही अश्वघोष की कृति बताया गया है।

(४) त्रिदण्डमाला : इस ग्रन्थ की संस्कृत मूलप्रति सांकृत्यायन को तिब्बत से मिली थी। इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्यविषय भाषण-कला है। उस काल के जो विद्यार्थी उत्तम वक्ता बनना चाहते थे, उनके लिये इसमें शिक्षाएं हैं। इस ग्रन्थ की पुष्पिका से पता चलता है कि इसका कर्ता कोई सर्वास्तिवादी स्थविर अश्वघोष था। स्पष्ट है कि इस पुष्पिका के तथ्य प्रामाणिक ग्रन्थों की पुष्पिकाओं के तथ्यों से मेल नहीं खाते। इसके अतिरिक्त इसमें भी सन्देह है कि धर्म प्रचारक कवि अश्वघोष ने भाषण-कला पर ग्रन्थ का प्रणयन किया हो। अतः त्रिदण्डमाला के महाकवि अश्वघोष की कृति होने में सन्देह हैं।

(५) शतपञ्चाशतकस्तोत्र :—इस मूल संस्कृत ग्रन्थ का प्रकाशन चीनी, तिब्बती अनुवाद आदि सहित डी. आर एस. बेले द्वारा १९५१ में किया गया। इसकी पुष्पिका में मातृचेट के नाम का उल्लेख इसके लेखक के रूप में हुआ है। इसकी पुष्टि इत्सिंग द्वारा इसके चीनी अनुवाद और उसके संस्मरणों से भी होती है। परन्तु तिब्बती अनुवाद की पुष्पिका इसे अश्वघोषकृत बताती है। कर्तृत्व के विषय में यह भ्रान्ति वस्तुतः कुछ लोगों द्वारा मातृचेट और अश्वघोष को एक व्यक्ति मानने के कारण है। इसके अतिरिक्त महाकवि अश्वघोष की उत्कृष्ट शैली का भी यहां नितान्त अभाव है। अतः इसे अश्वघोष की अपेक्षा मातृचेट की कृति मानना ही न्यायोचित है।

(II) चीनी और तिब्बती अनुवादमात्र में उपलब्ध ग्रन्थ :

(१) श्रीमहाकालतन्त्र-रुद्रकल्प-महाश्मशाननाम टीका (तिब्बती अनुवाद)।
(२) वज्रयानमूलापत्तिसंग्रह (तिब्बती अनुवाद)।
(३) स्थूलापत्ति (तिब्बती अनुवाद)।
(४) मणिद्वीपमहाकारुणिकपञ्चदेवस्तोत्र (तिब्बती अनुवाद)।
(५) संवृति-वोधि-चित्त-भावनोपदेश-वर्णसंग्रह (तिब्बती अनुवाद)
(६) परमार्थबोधिचित्तभावनाक्रमवर्णसंग्रह (तिब्बती अनुवाद)
(७) अष्टाक्षरण-कथा (तिब्बती अनुवाद)
(८) परिणमनासंग्रह (तिब्बती अनुवाद)
(९) गुरुपञ्चाशिका (तिब्बती और चीनी अनुवाद)
(१०) शोकविनोदन (तिब्बती और चीनी अनुवाद)
(११) दशाकुशलकर्मपथनिर्देश (तिब्वती और चीनी अनुवाद)
(१२) षड्गतिकारिका (तिब्बती और चीनी अनुवाद)
(१३) महायानभूमिगुह्यवाचामूलशास्त्र (चीनी अनुवाद)
(१४) महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र (चीनी अनुवाद)
(१५) सूत्रालङ्कारशास्त्र (चीनी अनुवाद)

ये सभी ग्रन्थ बौद्ध-तन्त्र सहित विकास की उच्च अवस्था को प्राप्त महायान के किसी न किसी पक्ष का प्रतिपादन करते हैं जिसका सुवर्णाक्षी-पुत्र महाकवि अश्वघोष के प्रामाणिक ग्रन्थों में कोई विशेष वर्णन उपलब्ध नहीं है। विचारों और उनकी अभिव्यक्ति की शैली में भी बहुत अन्तर है। वस्तुतः जब अश्वघोष एक कवि और विद्वान् बौद्ध प्रचारक के रूप में सर्वत्र विख्यात हो गए तो कुछ लोगों ने इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये इन्हें अश्वघोष के नाम के साथ जोड़ दिया।

४. अश्वघोष का व्यक्तित्व

अश्वघोष बहुमुखी प्रतिभा के स्वामी थे। जहां वे मौलिक प्रतिभा के कवि थे वहां कुशल नाट्यकार, उच्च कोटि के संगीतज्ञ, प्रौढ़ दार्शनिक और महान् धर्मोपदेष्टा भी थे। जिस प्रकार चारों ओर से बहकर आने वाली नदियां समुद्र में मिलकर उसे और गम्भीर बना देती हैं, उसी प्रकार विविध प्रकार की विद्याओं और ज्ञानराशि से उसका व्यक्तित्व और अधिक गम्भीर और प्राञ्जल हो गया था। उसकी कृतियों के अध्ययन से पता चलता है कि उसने वेदों, उपनिषदों, रामायण,

महाभारत, सांख्य, योग, वेदान्त आदि दर्शनों, काव्यशास्त्र, धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, दण्डनीति, संगीत आदि का गहन अध्ययन किया था। उसके काव्यशास्त्रीय ज्ञान पर 'काव्यसौष्ठव' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाश डाला जाएगा। यहां उसके अन्य विषयों के ज्ञान पर संक्षेप से प्रकाश डाला जा रहा है।

जन्मना ब्राह्मण होने के कारण बाल्यकाल में अश्वघोष ने वेदों का कुछ न कुछ अध्ययन अवश्य किया था। यह तथ्य उसकी कृतियों में आए कुछ वैदिक प्रयोगों से स्पष्ट है। उदाहरण के लिये अग्नि के लिये द्विज का प्रयोग (यथा—द्विजो याति विमोक्षयंस्तनुम्–बु० च० ११।७१) √श्रि का प्रयोग 'छोड़ना' अर्थ में उसके वैदिक ज्ञान का परिचायक है (अशिश्रियत्...तपः—सौ० १।२)। सौ० २।२७ में रन्ध्रं नाचूचुदत् भृत्यान् के प्रयोग में कवि ऋग्वैदिक नाम रध्रचोदनः से प्रभावित प्रतीत होता है। बु० च० १३।६८ में वसुधातल की नाभि का विचार ऋग्वेद से लिया गया प्रतीत होता है जहां अग्नि और सोम के स्थान (धामन्) को अनेकशः भूमि की नाभि बताया गया है। वसिष्ठ के लिये और्वशेय (बु० च० ९।९) का प्रयोग भी वैदिक ज्ञान पर आधारित है। ऋग्वेद (७।३३।१८) में मित्र और वरुण के पुत्र वसिष्ठ को उर्वशी के मन से उत्पन्न बताया गया है। कवि यज्ञकर्म से भी भली प्रकार परिचित है। काले निमीयते सोमः (सौ० १।१५) मे इसकी पुष्टि होती है। सौम्यः सोममसीमपत् (सौ० २।३६) में उद् अथवा वि उपसर्ग के विना √मा के प्रयोग से विदित होता है कि अश्वघोष शतपथब्राह्मण की भाषा से भली प्रकार परिचित था। प्रोक्षण और अभ्युक्षण (बु० च० १२।३०) के प्रयोग उसके जटिल कर्मकाण्ड के सूक्ष्म ज्ञान की ओर संकेत करते हैं। निवर्त (सौ० १५।४४) और वि√मद (सौ० ९।३०) का प्रयोग ब्राह्मण ग्रन्थों से प्रभावित है, तथा समारुरुहु-रात्मानम् (बु० च० ४।२४) का प्रयोग प्रज्ञया मनः समारुह्य (कौषी० उ० ३।६) का स्मरण कराता है। सौ० १६।१७ श्वेताश्वतर० १।२ से, सौ० ११।५९ छान्दोग्य ६।८२ से तथा सौ० ११।३२ कठ० १।१।२७ से प्रभावित प्रतीत होता है।

अश्वघोष की काव्यकृतियों के अध्ययन से पता चलता है कि कवि ने रामायण और महाभारत का सूक्ष्म अध्ययन किया था। बुद्धचरित के १२वें सर्ग में महर्षि अराड द्वारा उपदिष्ट सांख्य के सिद्धान्तों की महाभारत में वर्णित मोक्षधर्म से निकट की समानता है। सम्भवतः वार्षगण्य सम्प्रदाय का कोई ग्रन्थ दोनों का ही समान स्रोत रहा हो। कवि महाभारत के नलोपाख्यान और भगवद्गीता से अधिक प्रभावित प्रतीत होता है। नलोपाख्यान का प्रभाव बुद्धचरित और सौन्दरनन्द के अनेक स्थलों पर स्पष्ट है। सौन्दरनन्द और भगवद्गीता की विचारधारा तथा वर्णन-शैली में परले दर्जे की समानता है। गीता के युक्ताहारविहार, युक्त-स्वप्नावबोध (गी० ६।१६-१७) को लेकर ही सौन्दरनन्द के समूचे १४वें सर्ग की रचना हुई है। गीता १३।१० और सौन्दरनन्द १६।२८ तथा गीता २।६६ और सौन्दरनन्द ११।३३ की समता दर्शनीय है। महाभारत के पात्रों में कुरवः बु० च०

११।३१; सौ० ६।२०), पाण्डव (=अर्जुन) (बु० च० १०।१७), भीष्म (बु० च० ११।१८; सौ० ७।४४), पाण्डु (बु० च० ४।७६; सौ० ७।४५) आदि का उल्लेख उसे महाभारत से परिचित सिद्ध करता है। कवि ने अनेक आख्यानों और उपाख्यानों का भी संकेत किया है, परन्तु हमेशा उसी रूप में नहीं जिस रूप में वे महाभारत में मिलते हैं।

साकेतक होने के नाते अश्वघोष ने रामायण के प्रति अधिक आदरभाव प्रदर्शित किया है। कवि ने अपने दोनों महाकाव्यों में इस वर्णन में गर्व अनुभव किया है कि महात्मा बुद्ध उसके जन्म स्थान अयोध्या के एक क्षत्रिय वंश से सम्बंधित हैं। वह वाल्मीकि को आदि पद्यस्रष्टा के रूप में जानता है (वाल्मीकिरादौ च ससर्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः—बु० च० १।४३)। उसने उसे धीमन् विशेषण से विभूषित किया है (सौ० १।२६)। भाषा, भाव, शैली आदि की दृष्टि से अश्वघोष पर वाल्मीकि की पूरी छाप दृष्टिगोचर होती है। बुद्ध के गृह-परित्याग और राम के वनगमन के वर्णन की समानता से पता चलता है कि अश्वघोष रामायण से भली प्रकार परिचित थे। वाल्मीकि द्वारा सीता के पुत्रों को संस्कृत किये जाने का भी उसे ज्ञान है (सौ० १।२६)। सम्भवतः वह वर्तमान बालकाण्ड से परिचित नहीं है क्योंकि जहां वर्तमान बालकाण्ड में विश्वामित्र के तप को भंग करने वाली अप्सरा का नाम मेनका दिया गया है वहां उसके अनुसार वह घृताची है (बु० च० ४।२०; सौ० ७।३५)। रामायण ४।३५।७ से अश्वघोष के पाठ की पुष्टि होती है। अश्वघोष सम्भवतः उत्तरकाण्ड से भी परिचित नहीं था। बुद्धचरित (६।६) में कवि ने गौतम को वन से वापस लाने वाले मन्त्री और पुरोहित की तुलना राम को वन से वापस लाने के लिये भेजे हुए मन्त्री वामदेव और पुरोहित वसिष्ठ से की है। महाभारत के रामोपाख्यान के अनुसार भी राम को वापस लाने के लिये वामदेव और वसिष्ठ के भरत के साथ जाने का विशेष वर्णन है। परन्तु वर्तमान रामायण में भरत जब राम को वापस लाने के लिये जाता है तो वहां वामदेव और वसिष्ठ का ऐसा वर्णन नहीं। इससे विदित होता है कि भरत के स्वयं वन जाकर राम को वापस लाने वाली घटना अश्वघोष के पश्चात् रामायण में जोड़ी गई है।

अश्वघोष ने तात्कालिक स्मृतिग्रन्थों का भी अध्ययन किया था। वह स्मृतियों की इस व्यवस्था से परिचित था कि स्त्री को प्रत्येक अवस्था में संरक्षण की आवश्यकता है (बु० च० २२।४७)। गुरु का गोत्र क्षत्रिय शिष्य को प्राप्त हो जाता था (सौ० १।२२-२३)। कवि गुरुदक्षिणा की पवित्र प्रथा से भी परिचित था (१८।१-३,४८)। उसने उपमाओं के माध्यम से राजधर्म का भी पद पद पर वर्णन किया है। राजनीति के लिये उसने राजशास्त्र शब्द का प्रयोग किया है और शुक्र और बृहस्पति को उसका प्रणेता बताया है (बु० च० १।४१)। उसने लोकव्यवहार के लिये नीतिशास्त्र शब्द का प्रयोग किया है और उदायी को उसका ज्ञाता बताया है (बु० च० ४।६२)। वह दण्डनीति से भी भली प्रकार परिचित था (सौ० २।२८)।

बुद्धचरित (२।१-५) में अनेकविध निधियों, अश्वों, गजों और गायों के वर्णन से पता चलता है कि उसने वार्त्ता पर किसी ग्रन्थ का अध्ययन किया था। अश्वघोष ने एक अच्छे अश्व के जो लक्षण दिये हैं (बु० च० ५।७३), वे शालिहोत्रशास्त्र के किसी प्राचीन संस्करण से लिये प्रतीत होते हैं। यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि उसने कौटलीय अर्थशास्त्र का अध्ययन किया था या नहीं, परन्तु उसने लौकिक संस्कृत में अप्राप्य और कौटलीय अर्थशास्त्र जैसी शब्दावलि का प्रयोग किया है, जैसे—विगुण (सौ० २।१८), रात्रिसत्र (सौ० २।२८), शक्यसामन्त (सौ० २।४५), आदि।

सौन्दरनन्द के सर्ग ४ और ६ के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अश्वघोष को कामसूत्र का ज्ञान था। हावभाव, कपोलों पर रचे गए विशेषक तथा तमाल-पत्रों की रचना का ज्ञान कवि को कामशास्त्र के अध्ययन से प्राप्त हुआ होगा।

बौद्ध लोग आयुर्वेद के अध्ययन में विशेष रुचि रखते थे। अश्वघोष ने आयुर्वेद के अनेक दृष्टान्तों का सहारा लिया है, विशेष रूप से वात, पित्त और कफ़ का (सौ० १६।५९ आदि, बु०च० ११।४९)। कवि ने एक स्थान पर कहा है—'जिस प्रकार द्रव्य का रस कड़वा होता है, परन्तु उसका विपाक मधुर होता है, उसी प्रकार परिश्रम के कारण उद्योग अप्रिय होता है, परन्तु लक्ष्यसिद्धि के पश्चात् वह सुखद प्रतीत होता है' (सौ० १६।९३)। एक अन्य स्थान पर कहा है—'जो रोगी रोग-निदान और रोग की औषध को सम्यक् जान लेता है, वह निपुण मित्रों द्वारा उपचार किया जाता हुआ शीघ्र आरोग्य प्राप्त कर लेता है' (सौ० १६।४०)। कवि ने बुद्ध के लिये महाभिषक् शब्द का प्रयोग किया है (अहं हि दृष्टो हृदि मन्मथाहिना विधत्स्व तस्मादगदं महाभिषक्—सौ० १०।५५)। औषधों और मन्त्रों से सर्पविष-निवारण (सौ० ५।३१; ९।१३), मन्त्रादि से निधियों की प्राप्ति (सौ० १।३९), इन्द्रजाल (सौ० ५।४५) आदि क्रियाओं से कवि परिचित है। ज्योतिःशास्त्र के क्षेत्र में केवल नक्षत्रों और उनके देवताओं का उल्लेख किया है, जैसे पुष्य और उसके देवता बृहस्पति का (बु० च० २।३६)। छोटे शिल्पों में सुवर्ण-संशोधन (सौ० १५।६६-६९; १६।६५-६६) के अतिरिक्त कवि ने किसी अन्य शिल्प का संकेत नहीं किया।

अश्वघोष के काव्यों के अध्ययन से पता चलता है कि कवि समकालिक ललित कलाओं के उच्च स्तर से परिचित था। चित्रकला का अनेक बार उल्लेख हुआ है, जैसे—स्वयमेव यथालिख्य रज्येच्चित्रकरः स्त्रियम् (सौ० १५।३९)। मूर्ति-कला का भी उल्लेख है (बु० च० ५।५२)। कपिलवस्तु नगर के निवेश-वर्णन से तत्कालीन उच्चस्तरीय वास्तुकला का परिचय मिलता है (सौ० १।४१ आदि)। यदि गण्डी-स्तोत्र सचमुच अश्वघोष की कृति है तो वह अवश्य ही एक महान् संगीतज्ञ रहा होगा। चीनी और भारतीय परम्पराओं में भी उसे उच्च कोटि का

संगीतज्ञ बताया गया है। परन्तु सौन्दरनन्द (१०।२५) में केवल चार प्रकार के वाद्यों का उल्लेख मात्र ही है।

अश्वघोष की कृतियों में समकालिक धार्मिक सम्प्रदायों के विषय में कोई विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। अग्निपूजा, सोमयज्ञ (सौ० १।१५;२।३६) और पशुबलि (बु० च० १०।३९) का अनेक बार उल्लेख हुआ है। तपश्चर्या का वर्णन सौन्दरनन्द (१।१-१६) और बुद्धचरित (सर्ग ७) में हुआ है। शैव और वैष्णव मुनियों का भी उल्लेख है। क्षत्रियों में इन्द्र और कुबेर की पूजा विशेष रूप से प्रचलित थी। इन्द्रध्वजोत्सव का अनेक बार उल्लेख हुआ है (बु० च० ८।७३; सौ० ४।४६)। मरुतों को इन्द्र का सेवक (बु० च० ५।२, सौ० १।६२), और जयन्त या सनत्कुमार को उसका पुत्र बताया गया है (बु० च० ९।५; ५।२७)। शुद्धोदन को पुष्यनक्षत्र की पूजा करते हुए वर्णित किया है। अश्वघोष की कृतियों में कृष्ण और बलराम का देवताओं के रूप में कोई वर्णन नहीं, भले ही पश्चिमी भारत के इससे २०० वर्ष पूर्व के अभिलेखों में ऐसा उल्लेख हुआ है। विष्णु का उपेन्द्र नाम से एक बार (सौ० ११।४९) उल्लेख हुआ है। शिव की पूजा का बुद्धचरित में अनेक बार उल्लेख हुआ है पर सौन्दरनन्द में एक बार भी नहीं। कुमार के जन्म का संकेत बुद्धचरित (१३।१६) में है।

इससे अश्वघोष के सर्वतोमुखी प्रतिभा के स्वामित्व, सर्वज्ञानसम्पन्नत्व और सर्वकलानैपुण्य का परिचय मिलता है।

५. अश्वघोष की दार्शनिक मान्यता

अश्वघोष केवल विविध विद्याओं और शास्त्रों के पण्डित तथा उच्च कोटि के कवि ही नहीं थे, अपितु वे विद्वान् दार्शनिक भी थे। प्राचीन हिन्दु-दर्शनों और बौद्ध दर्शन का उन्होंने सूक्ष्म अध्ययन किया था। उनकी स्वयं बौद्ध दर्शन में गाढ आस्था थी। दर्शन के गूढ तत्त्वों को कवि ने अपने काव्य के माध्यम से विद्वानों और जनसाधारण तक पहुँचाने का प्रयास किया है। बुद्धचरित में तो उनका दार्शनिक स्वर कुछ अधिक ऊंचा हो गया है। यहां १२वें सर्ग में कवि ने तात्कालिक आस्तिक सांख्य को महर्षि अराड के माध्यम से पूर्वपक्ष में रख कर सिद्धार्थ के द्वारा उसका खण्डन कराया है। आस्तिक सांख्य के सिद्धान्त को इस प्रकार उपन्यस्त किया गया है—"पञ्चभूत, अहंकार, बुद्धि और अव्यक्त ये (८ तत्त्व) प्रकृति हैं। (पांच) ज्ञानेन्द्रियां, उनके विषय, हाथ-पांव, वाणी, पायु और उपस्थ (अर्थात् पांच कर्मेन्द्रियां) और मन ये (१६ तत्त्व) विकार हैं। सत्त्व को क्षेत्र का ज्ञाता होने के कारण क्षेत्रज्ञ कहा जाता है। आत्मचिन्तक आत्मा को ही क्षेत्रज्ञ कहते हैं। जो जन्म, जरा, व्याधि, मरण आदि से युक्त है वह व्यक्त है, जो इसके विपरीत है वह अव्यक्त है" (बु० च० १२।१८-२०, २२)। अश्वघोष ने पूर्व पक्ष का निराकरण करके आत्मा के विषय में बौद्ध धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"जिस प्रकार गुणों से पूर्व गुणी की सत्ता नहीं होती उसी प्रकार शरीर

से पूर्व शरीरी (=आत्मा) की सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि हम यह मान लें कि यह मुक्त हो जाता है तो भी शरीरी होने के नाते इसे पुनः शरीर से युक्त होना ही पड़ेगा। और शरीर से मुक्त हो जाने पर यह क्षेत्रज्ञ ज्ञ (=ज्ञाता) होता है अथवा अज्ञ? यदि ज्ञ होता है तो इसके लिये ज्ञेय का होना आवश्यक है और ज्ञेय के शेष रहने पर इसे मुक्त नहीं कहा जा सकता। यदि आप इसे अज्ञ मानते हैं तो आत्मा की कल्पना की कोई आवश्यकता नहीं, क्योंकि आत्मा के विना भी अज्ञान काष्ठ, दीवार आदि की तरह सिद्ध है ही।"—

प्राग्देहान्न भवेद्द देही प्राग्गुणेभ्यस्तथा गुणी।
तस्मादादौ विमुक्तः सन् शरीरी वध्यते पुनः॥
क्षेत्रज्ञो विशरीरश्च ज्ञो वा स्यादज्ञ एव वा।
यदि ज्ञो ज्ञेयमस्यास्ति ज्ञेये सति न मुच्यते॥
अथाज्ञ इति सिद्धो वः कल्पितेन किमात्मना।
विनापि ह्यात्मनाऽज्ञानं प्रसिद्धं काष्ठकुड्यवत्॥
(बु० च० १२।७६-८१)।

महात्मा बुद्ध ने दुःख, दुःख-हेतु, दुःख-विनाश और दुःख-विनाश का मार्ग ये चार आर्य-सत्य स्वीकार किये हैं। यह संसार दुःखों का घर है। जन्म, जरा, मृत्यु, अप्रिय से संयोग, प्रिय से वियोग और कामनाओं की अपूर्ति सब कुछ दुःख ही तो है। दुःख का हेतु है तृष्णा—काम, भोगों की इच्छा, क्योंकि विषयभोगों की होड़ में ही परस्पर कलह, विग्रह और विवाद उत्पन्न होते हैं। तृष्णाओं के अत्यन्त विरोध और परित्याग को दुःख-विनाश कहा गया है। यह दुःख-विनाश ही बुद्ध के समस्त दर्शन का केन्द्रबिन्दु है। दुःख-विनाश की ओर ले जाने वाला मार्ग आर्य-अष्टांगिक मार्ग है। इस मार्ग की आठ बातें हैं—ठीक दृष्टि, ठीक सङ्कल्प, ठीक वचन, ठीक कर्म, ठीक जीविका, ठीक प्रयत्न, ठीक स्मृति और ठीक समाधि। इनमें से प्रथम दो को ज्ञान, अगले तीन को शील (सदाचार) और अन्तिम तीन को समाधि इन तीन स्कन्धों में विभक्त किया जा सकता है। अश्वघोष ने इस समस्त बौद्ध दर्शन को अपने काव्यग्रन्थों में बड़ी स्वाभाविक और सरल शैली में जीवन के विभिन्न-क्षेत्रों से दृष्टान्त देकर समझाया है। अश्वघोष ने चार आर्य-सत्यों का संकेत सौन्दर-नन्द के १६वें सर्ग के प्रारम्भ में ही दिया है:—

बाधात्मकं दुःखमिदं प्रसक्तं दुःखस्य हेतुः प्रभवात्मकोऽयम्।
दुःखक्षयो निःशरणात्मकोऽयं त्राणात्मकोऽयं प्रशमस्य मार्गः॥ (सौ० १६।४)।

कवि ने सौन्दरनन्द के १६वें सर्ग में आर्य-सत्यों की व्याख्या करते हुए कहा—"जैसे आकाश में वायु का, शमी में अग्नि का और पृथ्वी में जलका निवास है उसी प्रकार चित्त और शरीर में दुःख का निवास है। जैसे द्रवत्व जलों का, कठोरता पृथ्वी का, चञ्चलता वायु का और उष्णता अग्नि का अटल स्वभाव है, उसी प्रकार

दुःख चित्त और शरीर का अटल स्वभाव है" (सौ० १६।११-१२)। अश्वघोष ने ज्ञान, शील और समाधि इन तीन स्कन्धों पर आधारित अष्टांग-सत्य की विस्तार से व्याख्या करते हुए कहा है :—

त्रिस्कन्धमेतं प्रविगाह्य मार्गं प्रस्पष्टमष्टाङ्गमहार्घमार्यम्।
दुःखस्य हेतून् प्रजहाति दोषान् प्राप्नोति चात्यन्तशिवं पदं तत्॥
(सौ० १६।३७)।

बौद्धों के अनुसार इस दुःख से मुक्ति को ही मोक्ष या निर्वाण कहा जाता है। निर्वाण या मोक्ष की धारणा भी बौद्धों की अपनी ही है। उनके अनुसार निर्वाण की स्थिति में "आत्मा न पृथ्वी में जाता है न अन्तरिक्ष में, न दिशा में, न किसी विदिशा में, किन्तु क्लेश के क्षय से ठीक उसी प्रकार शान्ति को प्राप्त हो जाता है जिस प्रकार दीपक निर्वृति की दशा में न पृथ्वी में जाता है न अन्तरिक्ष में, न दिशा में न किसी विदिशा में, किन्तु तैल के क्षय से केवल शान्ति को प्राप्त हो जाता है।"—

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
तथा कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद् विदिशं न काञ्चित् क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्॥
(सौ० १६।२८-२९)।

मोक्ष या निर्वाण के इस सिद्धान्त को अश्वघोष ने बड़े सरल शब्दों में दीपक के दृष्टान्त से समझा दिया है।

निर्वाण की इच्छा वाला साधक इस जगत् को मार (काम) का राज्य समझता है। मार पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् ही उसे परम शान्ति की प्राप्ति हो सकती है। सौन्दरनन्द के ७वें, ८वें और ९वें तथा बुद्धचरित के ११वें सर्ग में बार बार काम की निन्दा की गई है और उसकी भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली मृगमरीचिका की निःसारता स्पष्ट की गई है। अश्वघोष ने सौन्दरनन्द के ८वें सर्ग में जगज्जाल से मुक्त नन्द की पुनः उसमें फंसने की चेष्टा के कारण उत्पन्न दयनीय दशा का अन्योक्ति के द्वारा अत्यन्त सुन्दर चित्रण किया है—"यह दुःख की बात है कि व्याध के महान् भय से छुटकारा पाया हुआ चञ्चल मृग झुंड की लालसा से युक्त हुआ, गीत ध्वनि से वञ्चित होकर फिर से जाल में फंसना चाहता है :—

कृपणं बत यूथलालसो महतो व्याधभयाद् विनिःसृतः।
प्रविविक्षति वागुरां मृगश्चपलो गीतरवेण वञ्चितः॥ सौ० ८।१५॥

अश्वघोष ने अपने दोनों ही महाकाव्यों को अपने दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है, परन्तु जहां बुद्धचरित में उपन्यस्त दार्शनिक सिद्धान्त

विशेष पाण्डित्यपूर्ण पारिभाषिक शैली में निबद्ध हैं, वहां सौन्दरनन्द के दार्शनिक स्थलों में कवि ने शैली की सरसता, कोमलता और स्वाभाविकता को अक्षुण्ण बनाए रखा है।

६. अश्वघोष की धार्मिक सहिष्णुता

अश्वघोष का जन्म किसी विद्वान् ब्राह्मण वंश में हुआ था और बाल्यकाल में ही उसने वेदों, उपनिषदों, सूत्रग्रन्थों, **रामायण, महाभारत**, स्मृतियों और दर्शन-ग्रन्थों का गहरा अध्ययन कर लिया था। इस तथ्य का पता उसके ग्रन्थों के अध्ययन से अनायास ही चल जाता है। उसने प्राचीन आचार्यों, पौराणिक वृत्तों, रामायण और महाभारत के अनेक पात्रों, धार्मिक मान्यताओं और दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख बार बार अपने काव्यग्रन्थों में किया है। बौद्ध धर्म में दीक्षित हो जाने के पश्चात् उसने अपना समस्त जीवन बौद्ध धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये समर्पित कर दिया। बुद्ध के सिद्धान्तों और उपदेशों को अपने सरस काव्य के माध्यम से सरल व्याख्या करके उसने लोगों को बौद्ध धर्म में दीक्षित करने का भागीरथ प्रयास किया, पर अपने ग्रन्थों में कहीं भी प्राचीन हिन्दु-धर्म के प्रति किसी प्रकार की द्वेषभावना या निन्दा के भाव प्रकट नहीं किये। उसके काव्य-ग्रन्थ वस्तुतः प्राचीन हिन्दु-संस्कृति को पृष्ठभूमि के रूप में लेकर चलते हैं और उनमें पग पग पर प्राचीन हिन्दु-धर्म और संस्कृति के प्रति समादरभाव प्रकट हुआ है। पर धर्मसहिष्णुता के विषय में उसके निम्न उद्गार आज भी सबके लिये अनुकरणीय हैं—उसने प्रार्थी जनों के लिये समय पर मोक्ष की कथा कही, पर विरोधी मार्ग का अनुकरण करने वाले लोगों की न तो निन्दा की, और न अपनी श्रेष्ठता ही प्रकट की :

निर्मोक्षाय चकार तत्र च कथां काले जनायार्थिने।
नैवोन्मार्गगतान् परान् परिभवन्नात्मानमुत्कर्षयन्॥ सौ० १८।६२॥

७. सौन्दरनन्द महाकाव्य की कथा

प्रथम सर्ग : धार्मिकों में श्रेष्ठ कपिल गौतम नामक मुनि थे। दीर्घकाल तक तपस्या करने के लिये उन्होंने हिमालय के शुभ अञ्चल में अपना आश्रम बनाया था। वह तपोभूमि मृदुल सिकताकणों से स्निग्ध और केसरों से पाण्डुर हो गई थी। चारों ओर प्रचुर फल-फूलों से भरी वनराजियों से वह आश्रम साधनवान् मनुष्य की तरह शोभायमान हुआ। सभी मुनि निर्वैरभाव से रहते हुए वहां तपस्या में निरत थे। कुछ समय के पश्चात् वहां निवास की इच्छा से कुछ इक्ष्वाकुवंशी राजकुमार आए। कपिल गौतम उनके गुरु बन गए और वे मुनि के नाम पर गौतम कहलाए। जिस स्थान पर उन्होंने निवास बनाया वह शाक वृक्षों से आच्छन्न था।

अतः वे शाक्य भी कहलाए। कालान्तर में उन राजकुमारों ने कपिल गौतम की आज्ञा से कपिलवस्तु नामक नगर का निवेश किया। वह नगर अत्यन्त समृद्ध और धर्मप्राण था।

द्वितीय सर्ग : कालक्रम से उस शाक्य वंश में सर्वगुणसम्पन्न प्रजापालक शुद्धोदन नामक राजा हुआ। उसने अपने शत्रुओं को उसी तरह नष्ट कर दिया जिस प्रकार आदित्य अपनी दीप्ति से अन्धकार को नष्ट कर देता है। अपने गुणों से वह इन्द्र के समान दिखाई देता था। प्रसन्न देवों की टोली से बोधिसत्त्व उस राजा के वंश में उत्पन्न होने को पृथ्वी पर उतरे। वह राजा की मायानामक पत्नी के गर्भ में प्रविष्ट हो गए। कुछ दिनों के पश्चात् उन्होंने जन्म ग्रहण किया। राजा की छोटी रानी से नन्द नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। राजा शुद्धोदन दोनों पुत्रों के मध्य उसी प्रकार शोभायमान हुआ जिस प्रकार हिमालय और पारियात्र के मध्य में मध्य-देश। नन्द तो विषयों में निरत रहा, परन्तु सिद्धार्थ अनासक्त रहा। जीर्ण, आतुर और मृत को देखकर उन्होंने संसार को असार समझा और एक रात चुपके से अपनी प्राणप्रिया को छोड़कर घर से निकल गए।

तृतीय सर्ग : वन में जाकर सिद्धार्थ तपस्या में लीन हो गए, परन्तु उसमें उनका मन रमा नहीं। कुछ समय मोक्षवादी उद्रक की संगति की परन्तु उसे भी असत्य समझ कर छोड़ दिया। अन्त में वह धृतिदक्ष तपस्वी समाधि लगाकर अश्वत्थ वृक्ष के पास बैठ गया और उन्हें अविनाशी नित्य तत्त्व का बोध हुआ। बुद्ध बनकर वे धर्मचक्रप्रवर्तन के लिये वाराणसी, काशी, गया, गिरिव्रज नामक नगरों में गए और बहुत से लोगों को अपने धर्म में दीक्षित किया। फिर अपने पिता के नगर में आकर अपने पिता और नगरवासियों को बौद्ध धर्म की दीक्षा दी।

चतुर्थ सर्ग : कपिलवस्तु में बुद्ध अपने धर्मप्रचार में संलग्न थे, परन्तु कामी नन्द अपनी प्रिया सुन्दरी के प्रेम-पाश में बंधा हुआ था। जिस समय नन्द विमान-सदृश अपने प्रासाद में रतिकेलि कर रहा था तो बुद्ध अपना भैक्षकाल समझ कर भिक्षा के लिये महल में आए। सबको कामरत देखकर वे वहां से लौट गए। नन्द को जब यह समाचार मिला तो वह भयभीत हो गया। सुन्दरी की आज्ञा से वह बुद्ध को वापस लौटाने के लिये निकला। अनिश्चय के कारण वह तरंगों पर संतरण करने वाले राजहंस की तरह न तो जा ही सका और न ठहर ही सका।

पञ्चम सर्ग : जब तथागत के पास पहुंचने के लिये व्याकुल नन्द प्रासाद से निकला तो वह पण्यपथ पर जनसमूह से घिरे थे। प्रजा को दर्शन देने के पश्चात् जब बुद्ध निर्जन मार्ग पर पहुंचे तो नन्द ने क्षमायाचना के पश्चात् उनसे घर चलने के लिये अनेकशः प्रार्थना की। बुद्ध ने उसे कामासक्त समझ कर उसके हाथ पर भिक्षापात्र रख दिया और अपने धर्म में दीक्षित करने के लिये उसे उद्बुद्ध किया।

महाकारुणिक भगवान् बुद्ध ने उसे काम-वासना से विमुख किया और चंचल मन को संयत करने का उपदेश दिया। जब नन्द को संसार की असारता दीख पड़ी तो उसने प्रव्रजित होना स्वीकार किया। संकेत पाते ही वैदेहमुनि आनन्द ने उसके केश मुण्डवा दिये और उसे वल्कलों से विभूषित किया। वालों की विदाई पर उसका आंसुओं से भरा मुख इस प्रकार सुशोभित हो रहा था जिस प्रकार तालाब में वर्षा के जल से भीगा टेढ़ी नाल वाला कमल।

षष्ठ सर्ग : प्रिय की प्रतीक्षा करती हुई सुन्दरी की व्याकुलता बढ़ने लगी। प्रिय के वियोग में वह रोने में कबूतरों को भी मात करने लगी। वह पति पर दोषारोपण करने लगी। सखियों ने उसे समझाया कि उसके विना नन्द के हृदय में शान्ति नहीं होगी, भले ही उसे लक्ष्मी ही क्यों न मिल जाए। भला अपनी चेतना के विना कोई जीवित रह सकता है? अतः उसे धैर्य धारण करना चाहिये।

सप्तम सर्ग : नन्द ने प्रव्रज्या तो ग्रहण की परन्तु उसकी चेतना व्याकुल ही बनी रही। उसने परिव्राजक के लिङ्गों को शरीर से धारण किया मन से नहीं। प्रिया की याद उसे रह रहकर सताती रही। वसन्त और कामदेव के निर्वैर अभिसार ने उसके चित्त को और अधिक चञ्चल बना दिया। काम ने उसके हृदय को मथ डाला और उसका धैर्यसेतु टूट गया। वह पुनः गृहोन्मुख होने की चेष्टा करने लगा।

अष्टम सर्ग : जब नन्द अधीर होकर विलाप कर रहा था तो एक श्रमण घूमता फिरता वहां आया। उसने नन्द से व्याकुलता का कारण पूछा। उसने जैसे तैसे अपने मन के भाव प्रकट किये और सहायता चाही। नन्द का मन अपनी प्रिया में आसक्त था। श्रमण ने नारी-वासना की निन्दा करके उसके मन को विमुख करने की चेष्टा की। उसने स्त्री के संसर्ग को सभी अनर्थों का कारण बताया और बुद्धि को मोक्ष में लगाने की प्रेरणा दी।

नवम सर्ग : श्रमण के उपदेश का नन्द पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह पहले की तरह व्याकुल और आसक्त बना रहा। श्रमण ने उसे पुनः उपदेश दिया— यौवन और रूप क्षणिक हैं। इस क्षणभंगुर संसार में केवल धर्म ही मंगलमय है। मोक्षधर्म का सेवन ही सत्य है और संसार की सब वस्तुएं तथा अभिमान मिथ्या एवं क्षणिक हैं। श्रमण के उपदेश से न तो नन्द को धैर्य हुआ और न शान्ति, क्योंकि मत्त हाथी की तरह उसका चित्त मदान्ध था। तब श्रमण ने सारा वृत्तान्त बुद्ध को कह सुनाया।

दशम सर्ग : बुद्ध नन्द को लेकर योगविद्या से आकाश में उड़ जाते हैं। बुद्ध हिमालय की तटी में पेड़ पर बैठी एक कानी बन्दरी को दिखाकर नन्द से पूछते हैं—'क्या सुन्दरी इससे सुन्दर है?' नन्द 'हां' में उत्तर देता है। तब बुद्ध उसे स्वर्ग में ले जाकर अप्सराएं दिखाते हैं। उन्हें देखकर नन्द सुन्दरी को भूल जाता है और एक अप्सरा को पत्नीरूप में पाने की इच्छा करता है। परन्तु भगवान् उसे

चेतावनी देते हुए कहते हैं—"यदि अप्सराओं को प्राप्त करना चाहते हो तो प्रमाद-रहित होकर प्रयत्नपूर्वक नियम का पालन करो। मैं तुम्हारा प्रतिभू हूं। व्रत स्थिर होने पर तुम इन्हें अवश्य प्राप्त करोगे।"

एकादश सर्ग : अप्सराओं से मन को हटाकर नन्द उसे धर्माचरण में लगाता है। आनन्द उसे उपदेश देता है—सभी लोग स्वर्ग की प्राप्ति के लिये तपस्या करते हैं, परन्तु पुण्य के क्षीण हो जाने पर वहां से पदच्युत हो जाते है। इसलिये स्वर्ग की प्राप्ति हितकर नहीं है। जो जरा, मरण, शोक और भय से रहित है, जो त्राण, कल्याणकारी और अमृत है उसी के लिये ब्रह्मचर्य का आचरण करो और अस्थायी स्वर्ग के प्रति अपनी इच्छा को छोड़ दो।

द्वादश सर्ग : 'अप्सराओं के लिये धर्माचरण कर रहे हो' आनन्द के द्वारा ऐसा कहा जाने पर नन्द अत्यन्त लज्जित हुआ। उसे विवेक प्राप्त हुआ और वह कामराग से निवृत्त होकर स्वर्ग की कामना से विरत हो गया। उसने बुद्ध के सम्मुख उपस्थित होकर कहा—'भगवन्! आप अप्सराओं की प्राप्ति के लिये प्रतिभू हैं। मैं अप्सराओं को नहीं चाहता।' तब बुद्ध ने कहा—'दुःख का आत्यन्तिक अभाव ही सुख है। उसकी प्राप्ति के लिये श्रद्धा का सहारा लो।'

त्रयोदश सर्ग : इस सर्ग में शील और इन्द्रियसंयम का विवेचन किया गया है। सभी कल्याणकारी कार्यों का आश्रय शील है। मनुष्य की इन्द्रियां अत्यन्त शक्तिशाली होती हैं। उन्हें वश में करना आवश्यक है। चञ्चल इन्द्रियां मनुष्य को श्रेय और शान्ति से विमुख कर देती हैं। इसलिये अत्यन्त यत्न पूर्वक इन्द्रियों की रक्षा करनी चाहिये (इन्द्रियसंवरः कार्यः)। ऐसा न करने से दुःख और पुनर्जन्म होता है।

चतुर्दश सर्ग : इस सर्ग में नन्द द्वारा इन्द्रियों को वश में करने का वर्णन है। भगवान् बुद्ध ने उसे युक्ताहारविहार का उपदेश दिया, जिससे नन्द योग के पथ पर आरूढ होता गया। तत्पश्चात् बुद्ध ने स्मृति का महत्त्व समझाया और कहा कि स्मृतिहीन मनुष्य विषयों के अन्धकार में भटकता रहता है। ऐसे मनुष्य को श्रेय की प्राप्ति नहीं हो सकती।

पञ्चदश सर्ग : इस सर्ग में वितर्कों के विनाश के लिये सत्यमार्ग का उपदेश किया गया है। मन में उत्पन्न हुए अकुशल वितर्कों का उन्मूलन करना ही श्रेयस्कर है। योगी को काम की भावना से परे रहना चाहिये तथा असूया और आसक्ति का सर्वथा परित्याग करना चाहिये। जिस प्रकार सुनार सोने को अग्नि में डाल कर उसे शुद्ध करता है, उसी प्रकार योगी अपने दोषयुक्त मन को अभ्यास की अग्नि में तपाकर उसे शान्त और समाहित कर सकता है।

षोडश सर्ग : सोलहवें सर्ग में आर्य-सत्यों की विस्तृत व्याख्या की गई है। दुःख, दुःख-हेतु, दुःख-विनाश और दुःखविनाश-मार्ग ये चार आर्य-सत्य हैं। दुःख-विनाश की ओर ले जाने वाला मार्ग आर्याष्टाङ्गिक मार्ग है, जिसे ज्ञान, शील और

समाधि इन तीन स्कन्धों में विभक्त किया गया है। ध्यान से मन की एकाग्रता, सिद्धि के साधन से निर्वाण की प्राप्ति होती है। वीर्य (उद्योग) के विना किसी भी कार्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। अतः शान्ति प्राप्त करने के लिये उद्योग करो, उद्योग में ही सब समृद्धियों का निवास है (तद् वीर्यं कुरु शान्तये विनियतं वीर्ये हि सर्वर्द्धयः)।

सप्तदश सर्ग : योग के साधन से नन्द को अर्हत्व की प्राप्ति हो गई। उसने अपने अकुशल वितर्कों का परित्याग किया और आर्यपथ का अनुसरण करके वह सुख और शान्ति की ओर अग्रसर हुआ। अर्हत्व की प्राप्ति से उसकी तृष्णाओं का क्षय हो गया और वह अपने शास्ता के पास जा कर अपनी कृतज्ञता प्रकट करने लगा। उसने कहा—जिसने मुझे थके हाथी की तरह अनर्थरूपी पङ्क से बाहर निकाल कर इस सद्धर्म में स्थापित कर दिया, मैं उस दयालु महर्षि को नमस्कार करता हूं।

अष्टादस सर्ग : कृतार्थ होकर नन्द गुरु के पास गया और बड़े विनीत स्वर में अपने हृदय के भावों को प्रकट करने लगा। उसने कहा—'भगवन् ! आप के उपदेश से मैं सन्मार्ग पर आ गया हूं। मेरा कामरूपी विष नष्ट हो गया है। अब मैं लोकधर्म से लिप्त नहीं हूं।' बुद्ध ने उसे साधुवाद दिया और कहा—'नन्द ! तुम नगरों में जा कर अपने प्राप्त ज्ञान का प्रचार करो। तुम्हें विषयों से विरक्त और स्थिर मन वाला जान कर तुम्हारी पत्नी भी तुम्हारा अनुसरण करती हुई स्त्रियों में भिक्षु धर्म का प्रचा करेगी।'

८. सौन्दरनन्द का काव्य-सौन्दर्य

कालिदास रसवादी कवि है, भारवि माघ और श्रीहर्ष कलावादी अथवा अलङ्कारवादी कवि हैं। अश्वघोष प्रचारवादी या उपदेशवादी कवि है। कालिदास जहां रस या काव्यानन्द को साध्य मानते हैं वहां अश्वघोष इसे साधन मानते हैं। यही कारण है कि अश्वघोष ने बौद्ध धर्म के मोक्षपरक सिद्धान्तों के प्रचार के लिये सरस काव्य को साधन के रूप में अपनाया। उसने स्वयं कहा है—"मोक्षधर्म की व्याख्या से परिपूर्ण यह कृति शान्ति प्रदान करने के लिये है, आनन्द के लिये नहीं। अन्यमनस्क श्रोताओं को आकृष्ट करने के लिये यह कृति काव्य शैली में रची गई है। इसमें मोक्षधर्म के अतिरिक्त मेरे द्वारा जो कुछ कहा गया है वह इसे काव्य-धर्म के अनुसार सरस बनाने के लिये ही, जैसे कि कड़वे औषध को पीने के लिये उसमें मधु मिला दिया जाता है।"[1] शैली की दृष्टि से अश्वघोष का मत कालिदास के इस मत से समता रखता है—'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम्'। यही कारण है कि अश्वघोष कलात्मकता और आलङ्कारिकता के चक्कर में नहीं पड़े हैं। परन्तु अश्वघोष की कला उपदेशवादी होने पर भी उसे कोरा नीतिवादी नहीं बना देती। उसके काव्य के अध्ययन से पता चलता है कि अश्वघोष में कविहृदयता

1. सौ० १८।६३ ॥

अवश्य थी ।[1] अश्वघोष की शैली आदिकवि वाल्मीकि की शैली की तरह सरल और सरस है, और सौन्दरनन्द में तो वह और अधिक परिष्कृत रूप में हमारे सामने आती है ।

(क) रसपरिपाक : अश्वघोष मूल रूप से शान्त रस के कवि हैं । बौद्ध भिक्षु की कृतियां होते हुए भी शृङ्गार रस का जो सरस वर्णन बुद्धचरित के तीसरे, चौथे और पांचवें तथा सौन्दरनन्द के चौथे और दशवें सर्ग में हुआ है वह अश्वघोष के कवित्व को प्रतिष्ठापित करने के लिये पर्याप्त है । यह बात दूसरी है कि भिक्षु अश्वघोष का मन सिद्धार्थ की तरह इन शृङ्गारिक वर्णनों में नहीं रमता । परन्तु उन्होंने सर्वत्र ही नारी के सौन्दर्य को शान्त वैराग्यशील भिक्षु की निगाह से नहीं देखा है । पहले वह उसे सरस लौकिक दृष्टि से देखते हैं, पर जैसे ही वे शान्त रस के प्रवाह में वह निकलते हैं नारी उनके लिये जर्जर भाण्ड के समान दूषित, कलुषित और कुरूप हो जाती है । फिर भी शान्त रस के लिये शृङ्गार की सरसता को सर्वथा न कुचल देना भिक्षु अश्वघोष की सबसे बड़ी ईमानदारी है ।[2] अश्वघोष के शृङ्गारिक चित्रों में भावात्मकता और हृदयस्पर्शी कोमल प्रभावोत्पादकता तो है, परन्तु विलासप्रियता और ऐन्द्रियकता का उसमें अभाव है । नख-शिख वर्णन की उद्दाम मादकता की अपेक्षा हृदय को गुदगुदा देने वाली स्वाभाविक सरसता ही उसमें अधिक है । उनके शृङ्गारचित्रों के भावों से संतृप्त होने के लिये कामशास्त्र का अध्ययन करना अपेक्षित नहीं है ।[3] सौन्दरनन्द से कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं :—

सा तं स्तनोद्वर्तितहारयष्टिरुत्थापयामास निपीड्य दोर्भ्याम् ।
कथं कृतोऽसीति जहास चोच्चैर्मुखेन साचीकृतकुण्डलेन ।। सौ० ४।१६।।

इस पद्य में सुन्दरी द्वारा नन्द को रिझाये जाने के लिये कोमल शृङ्गार के प्रस्फुट वातावरण का सुन्दर वर्णन हुआ है । 'सुन्दरी नन्द को अपनी भुज-लताओं में जकड़ लेती है । उसके स्तनों के ऊपर के हार हिलने लगते हैं । वह उसे ऊपर उठा लेती है और 'कैसे सुन्दर बने हो' ऐसा कह कर अपनी मुस्कान की माधुरी सब ओर बिखेर देती है । हंसी के साथ ही कुण्डल उसके चेहरे पर झूलने लगते हैं ।'

सुन्दरी की विरहविक्षिप्त दशा का चित्रण देखिये :—

रुरोद मम्लौ विरुराव जग्लौ बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ ।
चकार रोषं विचकार माल्यं चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रम् ।। सौ० ६।२४।।

'वह रोई, कुम्हलाई, चिल्लाई, इधर उधर घूमी, खड़ी रही, विलाप किया, चिन्तित हो गई, क्रोध में आ गई, उसने मालाओं को बिखेरा, (दांतों से) अपने मुख

---

१. भोलाशंकर व्यास, संस्कृत कविदर्शन, पृ० ५८ ।
२. वही, पृ० ६१ ।
३. नलिन, ब्रह्मचारी व्रजमोहन पाण्डेय, सौन्दरनन्द : साहित्यिक एवं दार्शनिक

(होठों) को काटा और वस्त्र को खींचा।' इस पद्य के प्रत्येक पद में विरह को अभिव्यञ्जना मिली है। प्रत्येक शब्द विरह की उत्कट तीव्रता की अभिव्यक्ति कर रहा है। विरह के कारण सुन्दरी की व्याकुलता और विक्षिप्तता को इस श्लोक में मूर्तरूप प्रदान हो गया है।

काव्य में शृङ्गार का अधिक महत्त्व होते हुए भी अनुभूति को तीव्र बनाकर उसे आस्वाद्य बनाने का श्रेय करुण रस को है। वस्तुतः काव्य का आदि-स्रोत ही करुण रस है। महाकवि वाल्मीकि को श्लोक की प्राप्ति और आदि-काव्य रामायण की रचना का आधार करुण ही है। अश्वघोष के करुण में सच्चे हृदय की कोमल अभिव्यक्ति हुई है। अपने प्रियतम के वियोग में सुन्दरी की दशा का वर्णन देखिये—

सा चक्रवाकीव भृशं चुकूज श्येनाग्रपक्षक्षतचक्रवाका।
विस्पर्धमानेव विमानसंस्थैः पारावतैः कूजनलोलकण्ठैः॥ सौ० ६।३०॥

'श्येन के द्वारा चक्रवाक के पंखों के अग्रभाग क्षत हो जाने पर चक्रवाकी की तरह वह कूजने लगी, मानों महल के ऊपरी भाग में रहने वाले कूजनप्रिय कबूतरों से (कूजन में) होड़ कर रही हो।'

एक अन्य उदाहरण देखिये—

सा सुन्दरी श्वासचलोदरी हि वज्राग्निसंभिन्नदरी गुहेव।
शोकाग्निनान्तर्हृदि दह्यमाना विभ्रान्तचित्तेव तदा बभूव॥सौ० ६।३३॥

'वज्र की अग्नि से जिसका भीतरी भाग फट गया हो ऐसी उस गुफा के समान उस सुन्दरी के उदर में सांसों के (तेजी से चलने के) कारण उत्कम्प होने लगा। शोकाग्नि से उसका हृदय जलने लगा। उस समय उसका चित्त स्थिर नहीं रहा।'

कवि का प्रधान लक्ष्य शान्त रस का वर्णन है। सौन्दरनन्द में शान्त रस की सरिता निरन्तर प्रवहमान दिखाई देती है। इसी रस को अङ्गी रस बना कर कवि ने इस महाकाव्य की रचना की है। इसी के द्वारा कवि नन्द को संसार की असारता दिखाकर उसे परम लक्ष्य निर्वाण की ओर आकृष्ट करता है। शान्तरस के विभाव के रूप में कवि ने संसार की दुःखमयता और नारी के सौन्दर्य की बीभत्सता का जो वर्णन किया है वह बहुत तीव्र है। नन्द को घर जाने के लिये विह्वल देखकर कोई भिक्षु नारी के सौन्दर्य की बीभत्सता का वर्णन करते हुए कहता है :—'यदि तुम्हारी वह सुन्दरी मलपङ्क से युक्त और निर्वसना हो जाए और उसके नख, दांत और रोम स्वाभाविक अवस्था में हो जाएं तो निश्चय ही आज वह तुम्हें सुन्दर नहीं लगेगी। कौन घृणावान् मनुष्य फूटे भांडे के समान अपवित्रता का स्रवण करती हुई स्त्री का स्पर्श करे, यदि वह मक्खी के पंख के समान झीनी चमड़ी से ढकी न हो।'

मलपङ्कधरा दिगम्बरा प्रकृतिस्थैर्नखदन्तरोमभिः ।
यदि सा तव सुन्दरी भवेन्नियतं तेऽद्य न सुन्दरी भवेत् ॥
स्रवतीमशुचिं स्पृशेच्च कः सघृणो जर्जरभाण्डवत् स्त्रियम् ।
यदि केवलया त्वचा वृता न भवेन्मक्षिकपत्रमात्रया ॥
सौ० ८।५१-५२

शान्त रस की पुष्टि वस्तुतः वहीं होती है जहां वचन को सुनते ही दुःखमय संसार के प्रति वैराग्य की भावना उत्पन्न हो जाए । एक उदाहरण देखिये :—

यथा हि नृभ्यां करपत्रमीरितं समुच्छ्रितं दारु भिनत्त्यनेकधा ।
तथोच्छ्रितां पातयति प्रजामिमामहर्निशाभ्यामुपसंहिता जरा ॥
स्मृतेः प्रमोषो वपुषः पराभवो रेतःक्षयो वाच्छ्रुतिचक्षुषां ग्रहः ।
श्रमस्य योनिर्बलवीर्ययोर्वधो जरासमो नास्ति शरीरिणां रिपुः ॥
सौ० ९।३२-३३ ॥

'जिस प्रकार दो मनुष्यों द्वारा संचालित आरा ऊंचे वृक्ष को अनेक खण्डों में काट डालता है, उसी प्रकार दिन-रात के द्वारा समीप लाया बुढ़ापा इस उन्नत जगत् का पतन उपस्थित करता है । (यह बुढ़ापा) स्मरण शक्ति का हरण करने वाला, रूप का तिरस्कार करने वाला, आनन्द का विनाशक, आँख कान और वाणी को ग्रहण लगाने वाला, थकावट उत्पन्न करने वाला तथा बल और वीर्य्य की हत्या करने वाला है । शरीरधारियों के लिये बुढ़ापे के समान और कोई शत्रु नहीं है ।'

शास्त्रीय परम्परा के अनुसार महाकाव्य में वीररस का होना भी अनिवार्य है । अश्वघोष ने अपने दोनों काव्यों में वीररस का समावेश मार-जय के वर्णन में किया है । रूपकालङ्कार की सहायता से वीररस की सृष्टि करने वाले निम्न पद्य द्रष्टव्य हैं :—

सज्ज्ञानचापः स्मृतिवर्म बद्ध्वा विशुद्धशीलव्रतवाहनस्थः ।
क्लेशारिभिश्चित्तरणाजिरस्थैः सार्धं युयुत्सुर्विजयाय तस्थौ ॥
ततः स बोध्यङ्गशितात्तशस्त्रः सम्यक्प्रधानोत्तमवाहनस्थः ।
मार्गाङ्गमातङ्गवता बलेन शनैः शनैः क्लेशचमूं जगाहे ॥
सौ० १७।२३-२४॥

'सच्चा ज्ञानरूपी धनुष लेकर, स्मृति-रूपी कवच पहन कर और विशुद्ध शीलव्रतरूपी वाहन पर आरूढ होकर वह चित्त के रणाङ्गन में स्थित क्लेशरूपी शत्रुओं के साथ युद्ध करने की इच्छा से विजय प्राप्त करने के लिये खड़ा हुआ । तब (सात) बोधि-अङ्ग रूपी तेज शस्त्र लेकर, सम्यक् उद्योगरूपी वाहन पर सवार होकर, (आर्य अष्टाङ्गिक) मार्ग के (आठ) अङ्गरूपी हाथियों की सेना के साथ उसने धीरे-धीरे क्लेशों की सेना में प्रवेश किया ।'

BVDSSMV

(ख) अलङ्कार-योजना : अश्वघोष कलावादी कवि नहीं है। इसलिये किस अलङ्कार या छन्द का कहाँ प्रयोग करना है, इसकी उन्हें बिल्कुल चिन्ता नहीं। इसके लिये वे बिल्कुल सचेष्ट नहीं हैं, तथापि उनके अलङ्कार स्वयं यथास्थान आते जाते हैं। इसके लिये उन्हें प्रयास नहीं करना पड़ता और यही कारण है कि उनके काव्यों में कृत्रिमता के कहीं भी दर्शन नहीं होते। विश्वनाथ भट्टाचार्य ने सौन्दरनन्द में ४५ अलंकारों की गणना की है जिनमें से केवल कुछ प्रसिद्ध अलंकारों का ही यहाँ वर्णन किया जाएगा।[1]

उपमा : साधर्म्यमूलक अलङ्कारों में कवि ने अपने काव्यों में उपमा का सफल प्रयोग किया है। यह अश्वघोष का मुख्य अलङ्कार है। उपमा के प्रयोग में अश्वघोष वाल्मीकि और कालिदास की ऊंचाईयों को छूते हैं। उनकी उपमाएँ जगत् की उन चिरपरिचित वस्तुओं से ली गई हैं जिनके साथ हमारे दैनिक जीवन का सीधा सम्बन्ध है। ब्रह्मचारी व्रजमोहन पाण्डेय 'नलिन' ने सौन्दरनन्द में प्रयुक्त उपमाओं को छः श्रेणियों में विभक्त किया है।[2] नीचे उपमा के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान् नापि ययौ न तस्थौ तुरंस्तरंगेष्विव राजहंसः॥

सौ० ४।४२॥

'बुद्ध का गौरव नन्द को एक तरफ खींच रहा था और भार्या का अनुराग दूसरी ओर। अनिश्चय के कारण लहरों में तैरते हुए राजहंस की तरह वह न तो जा ही सका और न ठहर ही सका।'

अश्वघोष की इस उपमा की तुलना महाकवि कालिदास की निम्नलिखित सुप्रसिद्ध उपमा से की जा सकती है—

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टिर्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ॥

कुमारसम्भव ५।८५॥

निम्नलिखित पद्य में नन्द के केशों के काटे जाते समय उसके झुके हुए और अश्रुपूर्ण मुख की उपमा सरोवर में वर्षा के जल से भीगे हुए और झुकी हुई अग्रभाग वाली नाल वाले कमल से दी गई है —

अथो नतं तस्य मुखं सबाष्पं प्रवास्यमानेषु शिरोरुहेषु।
वक्राग्रनालं नलिनं तडागे वर्षोदकक्लिन्नमिवावभासे॥ सौ० ५।५२॥

---

१. Bhattacharya, B.N., *Aśvaghoṣa—A Critical Study*, pp. 363-74.
२. नलिन, व्रजमोहन पाण्डेय, सौन्दरनन्द : साहित्यिक एवं दार्शनिक गवेषणा, पृ० ६०-६६॥

715

VIN3884

मालोपमा का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

यथोल्का हस्तस्था दहति पवनप्रेरितशिखा
यथा पादाक्रान्तो दशति भुजङ्गः क्रोधरभसः ।
यथा हन्ति व्याघ्रः शिशुरपि गृहीतो गृहगतस्
तथा स्त्रीसंसर्गो बहुविधमनर्थाय भवति ॥ सौ० ८।६१॥

उत्प्रेक्षा : महाकवि कालिदास की तरह उत्प्रेक्षा महाकवि अश्वघोष का भी प्रिय अलङ्कार है । निम्नलिखित सुन्दर उदाहरण देखिये—

व्याघ्रः क्लमव्यायतखेलगामी लाङ्गूलचक्रेण कृतापसव्यः ।
बभौ गिरेः प्रस्रवणं पिपासुर्दित्सन् पितृभ्योऽम्भ इवावतीर्णः ॥
सौ० १०।१० ॥

'थकावट के कारण धीरे-धीरे चलकर एक बाघ अपनी चक्राकार पूंछ को दाहिने कन्धे पर रखकर पहाड़ी झरने का जल पीना चाह रहा है । मानो नीचे उतरकर और यज्ञोपवीत को दाहिने कन्धे पर रखकर अपने पितरों को जल देने की इच्छा कर रहा हो ।'

रूपक : रूपक में उपमेय पर उपमान का अभेद आरोप होता है । अश्वघोष ने इस अलङ्कार का भी सफलतापूर्वक प्रयोग किया है । सांगरूपक का एक सुन्दर उदाहरण देखिए—

सा हासहंसा नयनद्विरेफा पीनस्तनात्युन्नतपद्मकोशा ।
भूयो बभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण ॥ सौ० ४।४॥

'मुस्कान रूपी हंस वाली, नेत्र रूपी भ्रमर वाली और पीन स्तन रूपी अत्युन्नत कमलकोश वाली वह स्त्रीरूपी पद्मिनी (तडागी) सूर्यवंश में उदित नन्द रूपी सूर्य से अत्यन्त भासित हुई ।'

साङ्गरूपक का ही एक अन्य उदाहरण कितना सुन्दर बन पड़ा है—

सज्ज्ञानचापः स्मृतिवर्म बद्ध्वा विशुद्धशीलव्रतवाहनस्थः ।
क्लेशारिभिश्चित्तरणाजिरस्थैः सार्धं युयुत्सुर्विजयाय तस्थौ ॥
सौ० १७।२३ ॥

'सद्ज्ञान रूपी धनुष लेकर, स्मृति रूपी कवच पहनकर और विशुद्ध शीलव्रत रूपी वाहन पर सवार होकर वह चित्त के रणाङ्गन में स्थित क्लेशरूपी शत्रुओं के साथ युद्ध करने की इच्छा से विजयप्राप्ति के लिए खड़ा हो गया ।'

दीपक—जहाँ प्रकृत और अप्रकृत दोनों का एक ही धर्म से कथन होता है, अथवा जहाँ एक ही कारक से अनेक क्रियाओं का सम्बन्ध रहता है, वहाँ दीपक अलङ्कार होता है । निम्न उदाहरण में प्रकृत और अप्रकृत का एक ही धर्म से कथन हुआ है—

अवेदीद् बुद्धिशास्त्राभ्यामिह चामुत्र च क्षमम् ।
अरक्षीद् धैर्यवीर्याभ्यामिन्द्रियाण्यपि च प्रजाः ॥ सौ० २।१५ ॥

'उसने बुद्धि के द्वारा इस लोक में अपने हित को प्राप्त किया और शास्त्र के द्वारा परलोक के योग्य (क्रिया और वस्तु) को जाना। उसने धैर्य के द्वारा इन्द्रियों की रक्षा की और वीर्य के द्वारा प्रजाओं की।'

एक अन्य उदाहरण देखिये—

गतं गतं नैव तु सन्निवर्तते
जलं नदीनां च नृणां च यौवनम् ॥ सौ० ९।२८ ॥

'नदियों का जल और मनुष्यों का यौवन जब चला जाता है तो चला ही जाता है, फिर वापस नहीं आता।'

निम्नलिखित पद्य में एक ही नायिका सुन्दरी का कर्तृरूप से होना, म्लान होना, चिल्लाना आदि अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध होने के कारण दूसरे प्रकार का दीपकालङ्कार है—

रुरोद मम्लौ विरुराव जग्लौ बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ ।
चकार रोषं विचकार माल्यं चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रम् ॥ सौ० ६।३४ ॥

प्रतीप—

प्रदहन् दहनोऽपि गृह्यते विशरीरः पवनोऽपि गृह्यते ।
कुपितो भुजगोऽपि गृह्यते प्रमदानां तु मनो न गृह्यते ॥ सौ० ८।३६ ॥

'प्रज्वलित अग्नि को भी पकड़ा जा सकता है, अनङ्ग पवन को भी पकड़ा जा सकता है, क्रुद्ध सर्प को भी पकड़ा जा सकता है, परन्तु स्त्रियों के मन को नहीं पकड़ा जा सकता।'

विशेषोक्ति—हेतु के रहते हुए भी फल के न होने पर विशेषोक्ति अलङ्कार होता है। यह उक्त और अनुक्त निमित्त होने से दो प्रकार का होता है। उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति का उदाहरण द्रष्टव्य है—

विभवान्वितोऽपि तरुणोऽपि विषयचपलेन्द्रियोऽपि सन् ।
नैव च परयुवतीरगमत् परमं हि ता दहनतोऽप्यमन्यत ॥ सौ० ३।३२ ॥

'सम्पतिशाली होते हुए भी, तरुण होते हुए भी तथा विषयों के कारण चपलेन्द्रिय होते हुए भी कोई मनुष्य दूसरों की युवतियों के पास नहीं गया, क्योंकि उसने उन्हें अग्नि से भी बढ़कर दाहक समझा।'

विभावना---इसमें कारण के न होते हुए भी कार्य की उत्पत्ति हो जाती है। यह विशेषोक्ति के बिलकुल विपरीत होता है। एक उदाहरण देखिये—

सनगा च भूः प्रविचचाल हुतवहसखः शिवो ववौ ।
नेदुरपि च सुरदुन्दुभयः प्रववर्ष चाम्बुधरवर्जितं नभः ॥ सौ० ३।९ ॥

पर्वतों सहित पृथिवी कांप उठी, कल्याणकर वायु बहने लगा, देवदुन्दुभिया

बज उठीं और मेघरहित आकाश वर्षा करने लगा।' यहां प्रववर्ष चाम्बुधरवर्जितं नभः में विभावनालङ्कार की सुषमा दर्शनीय है।

स्मरण—जहां किसी पूर्वानुभूत वस्तु की सदृश वस्तु को देखने से स्मृति हो जाए उसे स्मरणालङ्कार कहते हैं। अश्वघोष के काव्यों में इस अलङ्कार के असंख्य उदाहरण उपलब्ध हैं। एक उदाहरण देखिये—

प्रियां प्रियायाः प्रतनुं प्रियङ्गुं निशाम्य भीतामिव निष्पतन्तीम्।
सस्मार तामश्रुमुखीं सबाष्पः प्रियां प्रियङ्गुप्रसवावदाताम्॥ सौ० ७।६॥

'प्रिया की प्यारी प्रियङ्गुलता को, जो मानो भयभीत होकर निकल रही थी, देखकर उसने प्रियङ्गु के पुष्प के समान निर्मल वर्ण वाली उस अश्रुमुखी प्रिया को रोते हुए स्मरण किया।'

शोकस्य हर्ता शरणागतानां शोकस्य कर्ता प्रतिगर्वितानाम्।
अशोकमालम्ब्य स जातशोकः प्रियां प्रियाशोकवनां शुशोच॥ सौ० ७।५॥

'शरणागतों के शोक को हरने वाला और अभिमानियों को शोकयुक्त करने वाला भी वह शोकयुक्त होकर और अशोकवृक्ष का सहारा लेकर अशोक वन से प्यार करने वाली अपनी प्रिया के लिये शोक करने लगा।'

कारणमाला—

अतृप्तौ च कुतः शान्तिरशान्तौ च कुतः सुखम्।
असुखे च कुतः प्रीतिरप्रीतौ च कुतो रतिः॥ सौ० ११।३३॥

'तृप्ति के बिना शान्ति कहां, शान्ति के बिना सुख कहाँ, सुख के बिना प्रीति कहाँ और प्रीति के बिना रति कहां?'

यमक—शब्दालङ्कारों में कवि ने यमक और अनुप्रास का स्थान-स्थान पर प्रयोग किया है। नीचे यमक का एक उदाहरण देखिये—

तदेनदाज्ञाय विपाप्मनात्मना विमोक्षधर्माद्युपसंहितं हितम्।
जुषस्व मे सज्जनसम्मतं मतं प्रचक्ष्व वा निश्चयमुद्गिरन् गिरम्॥
सौ० ६।४६॥

'इसलिये पापरहित आत्मा से मोक्षधर्म के आरम्भ से युक्त इस हित को पहचानो और सज्जन-सम्मत मेरे इस मत का सेवन करो, या बोलकर अपना निश्चय बताओ।' यहां मना, हितम्, मतम्, गिरम् आदि की क्रम से आवृत्ति के कारण यमक है।

निम्न पद्य में भी हिना, स्थितः, मनो और तनु की क्रमशः आवृत्ति के कारण यमक है—

अनेन दष्टो मदनाहिना हि ना न कश्चिदात्मन्यनवस्थितः स्थितः।
मुमोह बोध्योह्यचलात्मनो मनो बभूव धीमांश्च स शन्तनुस्तनुः॥
सौ० १०।५६॥

'इस कामरूपी सर्प से डसा जाने पर कोई भी नर अपने में स्थिर नहीं रहा, स्थिरात्मा बोध्य् का मन मोह में पड़ गया और वह बुद्धिमान् शन्तनु (शरीर से) क्षीण हो गया ।'

अनुप्रास—स्वर की विषमता होने पर भी पद या पदांश के सादृश्य को अनुप्रास कहते हैं । अश्वघोष के काव्यों में अनुप्रास की छटा स्थान स्थान पर देखने को मिलती है । कुछ उदाहरण देखिये—

संसारकान्तारपरायणस्य शिवे कथं ते पथि नारुरुक्षा ।
आरोप्यमाणस्य तमेव मार्गं भ्रष्टस्य सार्थादिव सार्थिकस्य ॥

सौ० ५।४० ॥

सा देवता नन्दनचारिणीव कुलस्य नन्दीजननश्च नन्दः ॥

सौ० ४।६ ॥

अर्थालङ्कारों और शब्दालङ्कारों के अतिरिक्त अश्वघोष ने अन्योक्ति जैसी सशक्त विधा का भी अपने काव्यों में प्रयोग किया है । अन्योक्ति व्यङ्ग पर आधारित होती है और व्यङ्ग को काव्य का जीवन कहा गया है । सौन्दरनन्द के अष्टम सर्ग में अन्योक्ति के अनेक उदाहरण हैं । एक उदाहरण देखिये—

विहगः खलु जालसंवृतो हितकामेन जनेन मोक्षितः ।
विचरन् फलपुष्पवद् वनं प्रविविक्षुः स्वयमेव पञ्जरम् ॥

सौ० ८।१६ ॥

'जाल में फंसा हुआ पक्षी हितैषी जन के द्वारा मुक्त होकर फूलों और फलों से युक्त वन में विचरण करता हुआ स्वयं ही पिंजरे में प्रवेश करना चाहता है ।'

यहाँ कवि ने पक्षी के व्याज से बुद्ध के द्वारा संसार-जाल से मुक्त किये हुए, परन्तु स्वयं ही पुनः गृहस्थ के पिंजरे में फंसने के लिये आतुर नन्द का वर्णन किया है ।

(ग) छन्दःप्रयोग—महाकवि अश्वघोष ने अपने काव्यों में लयात्मक छन्दों का प्रयोग किया है । उसके काव्यों में तुकान्त पद्य भी उपलब्ध होते हैं । उदाहरण के लिये सौन्दरनन्द के दशम सर्ग के १३वें पद्य में चारों पादों के अन्त में क्रमशः सुन्दरीणाम्, कुचोदरीणाम्, किन्नरीणाम् और वल्लरीणाम् का प्रयोग हुआ है । इसी प्रकार सप्तदश सर्ग के १३वें पद्य के पादों के अन्त में क्रमशः मुमुक्षुः, विविक्षुः, दिदक्षुः, और उपात्तचक्षुः शब्दों का प्रयोग उपलब्ध है । अनेक पद्यों में कवि द्वारा प्रयुक्त स्वरसामञ्जस्य उसकी अनुभूतियों के उतार-चढ़ाव की सूचना देता है । सौन्दरनन्द में कुल मिलाकर १६ प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है । मुख्य छन्द उपजाति है, जिसका ४५८ पद्यों में प्रयोग हुआ है । आठ सर्गों में यह मुख्य छन्द के रूप में प्रयुक्त हुआ है । दूसरा मुख्य छन्द अनुष्टुप् है । इसका ३८४ पद्यों में प्रयोग हुआ

है। इसका सात सर्गों में केवल मुख्य छन्द के रूप में ही प्रयोग हुआ है। इन दो छन्दों के अतिरिक्त वंशस्थ, सुन्दरी (वियोगिनी) और उद्गता ही ऐसे छन्द हैं जिनका एक एक सर्ग में मुख्य छन्द के रूप में प्रयोग हुआ है। सब प्रकार के छन्दों में केवल उपजाति और वंशस्थ ही ऐसे छन्द हैं जिनका मुख्य छन्द के रूप में और सर्ग के अन्त में छन्दःपरिवर्तन के लिये भी प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त पांच छन्दों को छोड़कर शेष सब छन्दों का प्रयोग सर्गों के अन्त में छन्दःपरिवर्तन के लिये ही हुआ है। अष्टादश सर्ग में सबसे अधिक छन्दों अर्थात् छः छन्दों का प्रयोग हुआ है। उपजाति मुख्य छन्द (४३ पद्य) होते हुए भी इसमें वंशस्थ, पुष्पिताग्रा, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित और सुवदना का प्रयोग हुआ है।

अश्वघोष ने सम, अर्द्धसम और विषम तीनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। शरभा जिसका दो बार (१२।४३, १३।५६), कुसुमितलतावेल्लिता जिसका एक बार (७।५२) और वर्धमान के अन्तर्गत उपस्थितप्रचुपित जिसका दो बार (२।६४-६५) प्रयोग हुआ है, ऐसे वृत्त हैं जिनका परवर्त्ती साहित्य में प्रयोग नहीं मिलता। शरभा का तो केवल भरत के नाट्यशास्त्र में ही वर्णन हुआ है। सुकुमारसेन का मत है कि कुसुमलतावेल्लिता जिसे भरत के नाट्यशास्त्र में चित्रलेखा कहा गया है, साहित्य में केवल यहीं प्रयुक्त हुआ है और आगे चलकर कालिदास आदि के काव्यों में मन्दाक्रान्ता का जन्म इसीसे हुआ है।[१] उद्गता और उपस्थित-प्रचुपित के प्रयोग से पता चलता है कि कवि कठिन छन्दों के प्रयोग में भी सिद्ध-हस्त था। सौन्दरनन्द १३।५५ में, जिसे जॉन्स्टन महोदय ने प्रक्षिप्त माना है, एक ऐसे अर्धसमवृत्त का प्रयोग हुआ है, जिसका उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

अश्वघोष के छन्दों में यति का कोई विशेष नियम दृष्टिगोचर नहीं होता। उदाहरण के लिये उपजाति छन्द में वह प्रायः पांचवें, चौथे या तीसरे अक्षर पर मिलती है तो कभी कभी छठे या सातवें पर भी देखी जा सकती है। लम्बे छन्दों में प्रायः यति के नियमों का पालन किया गया है। पद पाद की सीमाओं का उल्लङ्घन नहीं करते। सौन्दरनन्द (४।७) का केवल एक ही उदाहरण है जहाँ तीसरे पाद के अन्त में आने वाले शोभेत का अन्तिम अक्षर चौथे पाद के आदि में आने वाले अन्योऽन्यहीनाव् के अ से सन्धि को प्राप्त होकर उसमें संक्रमण कर गया है। उपजाति को छोड़कर शेष उन सभी छन्दों में जिनके अन्त में गुरु अक्षर आता है, कवि युग्म पादों के अन्त में लघु अक्षर का अनेक बार प्रयोग करता है। परन्तु विषम पादों के सम्बन्ध में केवल एक वसन्ततिलका का ही उदाहरण है जहाँ तीसरे पाद के अन्त में लघु का प्रयोग हुआ है और वह है सप्तम सर्ग के ४८वें पद्य का तीसरा पाद। उपजाति पद्यों में तो लघु अक्षर किसी भी पाद के अन्त में देखा जा सकता है। इससे पता चलता है कि यद्यपि अश्वघोष के काल में

---

१. *JASB*, 1930, p. 205.

छन्दःशास्त्र पर्याप्त उन्नत दशा में था, किन्तु उसके विकास की प्रक्रिया अभी समाप्त नहीं हुई थी। इसीलिये अश्वघोष ने यत्र तत्र छन्दःशास्त्र के नियमों का उल्लङ्घन किया है जबकि परवर्ती कवि ऐसा न कर सके।[1]

(घ) चरित्र-चित्रण—अपने पात्रों के चरित्र-चित्रण में अश्वघोष ने जीवन की उदात्त भावना को ही आदर्शरूप में अपने सम्मुख रखा है। उसके पात्र बहिर्मुखी होने की अपेक्षा अन्तर्मुखी अधिक हैं। उनका आदर्श अपने लिये और अन्य सबके लिये निर्वाण की प्राप्ति कराना है।

सौन्दरनन्द में बुद्ध, नन्द और सुन्दरी ये तीन ही मुख्य पात्र हैं। गुरु, शास्ता और पथप्रदर्शक के रूप में बुद्ध के पग पग पर उपस्थित रहते हुए भी यहाँ कवि को नन्द के जीवन में महान् परिवर्तन दिखाकर उसे नायक के रूप में चित्रित करना ही अभीष्ट है।

नन्द आदि में धीरललित नायक है। जो गुण एक नायक में होने चाहियें वे सभी अनुपाततः उसमें उपलब्ध हैं। वह शाक्यवंशीय राजा शुद्धोदन के उच्चकुल में उत्पन्न हुआ है और भगवान् बुद्ध का छोटा भाई है। वह लम्बी भुजाओं वाला, चौड़ी छाती वाला, सिंह के समान कंधों वाला, वृषभ की सी आंखों वाला, मधुमास और नवोदित चन्द्रमा के समान कमनीय और अङ्गवान् अनङ्ग सा दिखाई देता था (सौ० २।५८-५९)। वह अपनी प्रिया सुन्दरी के प्रेमपाश में इतना बन्ध गया कि उससे निकल पाना उसके लिये बहुत कठिन हो गया। जब उसने सुना कि तथागत उसके प्रासाद में आकर वापस लौट गए हैं तो वह विकलचित्त होकर उसे ढूंढने निकल पड़ता है। परन्तु एक ओर जहाँ बुद्ध का गौरव उसे आगे बढ़ने के लिये प्रेरित कर रहा था वहाँ दूसरी ओर प्रिया का अनुराग उसे पीछे की ओर खींच रहा था। कवि ने नन्द की इस द्विधामय अवस्था का सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है :—

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तुरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः ॥
४।४२ ॥

भगवान् बुद्ध उसे इन्द्रियों का दास न होने का उपदेश देते हैं और प्रज्ञामय कवच पहनाते हैं जिस पर शोकरूपी बाणों का प्रहार नहीं होता। परन्तु नन्द प्रव्रज्या के लिये तैयार नहीं होता। वह बुद्ध के कहने पर बौद्ध धर्म में दीक्षित तो हो जाता है पर उसका मन बार बार प्रिया की ओर दौड़ता है। वह भिक्षु और गृहस्थ की विवेचना करते हुए कहता है कि जो मनुष्य घर से तो निकल गया पर जिसने काम और राग का त्याग नहीं किया, जिसने काषाय तो धारण किया पर जिसके मन का काषाय नहीं गया, जिसने भिक्षापात्र तो धारण किया

१. Johnston, E. H., *The Buddhacarita*, Intro. p. lxvii.

पर गुणों से पात्रभूत नहीं हुआ वह लिङ्ग धारण करते हुए भी न तो गृहस्थ है और न भिक्षु :—

> यो निःसृतश्च न च निःसृतकामरागः
> काषायमुद्वहति यो न च निष्कषायः ।
> पात्रं बिभर्ति च गुणैर्न च पात्रभूतो
> लिङ्गं वहन्नपि स नैव गृही न भिक्षुः ॥ सौ० ७।४९॥

नारी के कल्मषरूप के विश्लेषण से भी उसका मन स्थिर न हो सका। स्वर्ग की अप्सराओं को देखकर उसका मन सुन्दरी की ओर से तो विमुख हो गया पर वह एक अप्सरा को प्राप्त करने के लिये साधना करता है। जब उसका ध्यान इस क्षुद्र उद्देश्यपूर्ण बात की ओर दिलाया जाता है तो उसे ज्ञान-दृष्टि मिल जाती है और वह योग, ध्यान तथा समाधि के द्वारा अर्हत्व को प्राप्त करता है। वह बुद्ध के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है। महात्मा बुद्ध उसे अन्य प्राणियों के निर्वाण के लिये प्रयास करने का उपदेश करते हैं। इस प्रकार वह दूसरों के कल्याण और मोक्ष की कामना करता हुआ धर्मप्रचार में प्रवृत्त हो जाता है।

इस काव्य की नायिका सुन्दरी है जिसे मुग्धा नायिका की कोटि में रखा जा सकता है। वह अपने अनुपम सौन्दर्य के कारण जनपद में सुन्दरी कहलाती थी। इसके अतिरिक्त वह भामिनी और मानिनी नामों से भी पुकारी जाती थी। उसके सौन्दर्य का वर्णन अश्वघोष ने इन शब्दों में किया है—'मुस्कानरूपी हंस वाली, नयनरूप भ्रमरों वाली तथा पीन-स्तन रूप उन्नत कमलकोश वाली वह स्त्रीरूपी पद्मिनी (कमलसरसी) सूर्यवंश में उदित नन्दरूपी सूर्य से अत्यन्त भासित हुई।'

> सा हासहंसा नयनद्विरेफा पीनस्तनात्युन्नतपद्मकोशा ।
> भूयो बभासे स्वकुलोदितेन स्त्रीपद्मिनी नन्ददिवाकरेण ॥
> सौ० ४।४ ॥

सुन्दरी को भी नन्द में प्रगाढ आसक्ति है। वह उससे क्षणभर के लिये भी अलग होकर जीना नहीं चाहती। उनके पारस्परिक गाढ प्रेम का वर्णन कवि ने इस प्रकार किया है—यदि नन्द उस सुन्दरी को प्राप्त नहीं करता अथवा वह टेढ़ी भौहों वाली सुन्दरी उसे प्राप्त नहीं करती तो वे दोनों निश्चय ही एक दूसरे के अभाव में इस प्रकार शोभित नहीं होते जिस प्रकार एक दूसरे से अलग होकर रात्रि और चन्द्रमा'—

> तां सुन्दरीं चेन्न लभेत नन्दः सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः ।
> द्वन्द्वं ध्रुवं तद्विकलं न शोभेतान्योऽन्यहीनाविव रात्रिचन्द्रौ ॥
> सौ० ४।७ ॥

जब उसने सुना कि उसके प्रियतम ने भगवान् बुद्ध के उपदेश से प्रव्रज्या स्वीकार कर ली है तो वह शोकसन्तप्त होकर रुदन करने लगी । उसका सौन्दर्य फीका पड़ने लगा और वह मुरझाई हुई कमलिनी सी दिखाई देने लगी । 'लाल पल्लव के समान ताम्रवर्ण हाथ पर रखा हुआ उसका पद्मतुल्य मुख इस प्रकार शोभित हो रहा था जिस प्रकार जल में पड़ने वाले कमल के प्रतिबिम्ब के ऊपर झुका हुआ कमल ।'

तस्या मुखं पद्मसपत्नभूतं पाणौ स्थितं पल्लवरागताम्रे ।
छायामयस्याम्भसि पङ्कजस्य बभौ नतं पद्ममिवोपरिष्टात् ।।
सौ० ६।१७।।

सुन्दरी अपने प्रियतम के वियोग में चक्रवाकी की तरह विलाप करती है और उसकी सखियां जैसे तैसे उसे ढाढस बंधाती हैं ।

नन्द को सम्बोधन करते हुए कहे गए भगवान् बुद्ध के ये शब्द भी सुन्दरी के चरित्र की उत्कृष्टता को ही व्यक्त करते हैं :—

ध्रुवं हि संश्रुत्य तव स्थिरं मनो निवृत्तनानाविषयै रथैः ।
वधूर्गृहे सापि तवानुकुर्वती करिष्यते स्त्रीषु विरागिणः कथाः ।।
त्वयि परमधृतौ निविष्टतत्त्वे भवनगता न हि रंस्यते ध्रुवं
मनसि शमदमात्मके विविक्ते मतिरिव कामसुखैः परीक्षकस्य ।।
सौ० १८।५९-६०।।

'नाना विषयों की इच्छाओं से मुक्त होकर तुम्हारा मन स्थिर हो गया है, यह सुनकर तुम्हारी वह पत्नी भी निश्चित रूप से घर में तुम्हारा ही अनुकरण करती हुई स्त्रियों में वैराग्य की कथाएं कहेगी । चूंकि तुम परम धैर्ययुक्त तत्त्व में प्रवेश कर चुके हो, इसलिये उसे निश्चय ही घर में इस प्रकार आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी जिस प्रकार चित्त के शान्त, दान्त और एकान्तसेवी हो जाने पर योगी की बुद्धि काम के सुखों में रमण नहीं करती ।' इससे पता चलता है कि सुन्दरी अपने प्रियतम की अनुव्रता धर्मपत्नी थी और वह हमेशा उसके ही मार्ग का अनुसरण करने के लिये तत्पर रहती थी ।

डा० नलिन के शब्दों में हम उपसंहार रूप में कह सकते हैं—"अश्वघोष के पात्रों में अन्तःसंघर्ष की ही भावना अधिक विकसित हुई है, बाह्यसंघर्ष उन्हें कम उद्वेलित करता है । अन्तःसंघर्ष के द्वारा वे अपने कल्याण-पथ का निर्धारण कर समष्टि जगत् के लिये भी आदर्श मार्ग का निर्देश करते हैं । उनके पात्र अतीत का मर्मस्पर्शी चिन्तन कर अनागत की भी आलोचना करते हैं ... "उनके पात्रों का आदर्श निर्वाण की प्राप्ति कर दूसरों को भी निर्वाण दिलाना है । शील, श्रद्धा

एवं वीर्य की प्रतिष्ठा करने वाले उनके पात्रों में जीवन की आदर्शोन्मुखी प्रवृत्तियों का अधिक प्राबल्य अभिलक्षित होता है।'[1]

(ङ) प्रकृति-वर्णन—अश्वघोष एक दार्शनिक और धर्मोपदेशक कवि है, अतः उसका मन प्रकृति-चित्रण में अधिक नहीं रमा है। उसके काव्यों में अनेक स्थल ऐसे आए हैं जहाँ वह प्रकृति के मनोरम दृश्यों की योजना कर सकता था, परन्तु उसने वहाँ प्रकृति का वर्णन बड़े चलते ढंग से कर दिया है। सौन्दरनन्द में अश्वघोष ने मुख्य रूप से तीन अवसरों पर ही प्रकृति का वर्णन किया है। एक तो प्रथम सर्ग में हिमालय की अधित्यका में स्थित कपिलमुनि के आश्रम के वर्णन में, दूसरे सातवें सर्ग में नन्द के विलाप में जहाँ प्रकृति उद्दीपन का कार्य करती है और तीसरे दशम-सर्ग में स्वर्ग-दर्शन में। कपिलमुनि के आश्रम के वर्णन के कुछ-एक उदाहरण प्रस्तुत हैं:—

पर्याप्तफलपुष्पाभिः सर्वतो वनराजिभिः।
शुशुभे ववृधे चैव नरः साधनवानिव॥
नीवारफलसन्तुष्टैः स्वस्थैः शान्तैरनुत्सुकैः।
आकीर्णोऽपि तपोभृद्भिः शून्यशून्य इवाभवत्॥ सौ० १।९-१०॥

'सब ओर प्रभूत मात्रा में फलों और फूलों से भरे बनों से उस आश्रम की साधनवान् मनुष्य की तरह शोभा और वृद्धि हुई। नीवार और फलों से सन्तुष्ट, स्वस्थ, शान्त और निराकाङ्क्ष तपस्वियों से भरा होने पर भी वह आश्रम सूना सा दिखाई देता था।'

उस आश्रम में पवित्र वेदियों पर सोए हुए हरिण ऐसे सुशोभित हो रहे हैं जैसे लाबे और माधवी पुष्पों के साथ उन्हें उपहार रूप में समर्पित कर दिया गया हो—

विरेजुर्हरिणा यत्र सुप्ता मेध्यासु वेदिषु।
सलाजैर्माधवीपुष्पैरुपहाराः कृता इव॥ सौ० १।१२॥

सप्तम सर्ग में वर्णित प्रकृति प्रिया के वियोग के कारण शोकसन्तप्त नन्द के लिये उद्दीपन का काम करती है। निम्नलिखित उदाहरण देखिये:—

शोकस्य हर्ता शरणागतानां शोकस्य कर्ता प्रतिगर्वितानाम्।
अशोकमालम्ब्य स जातशोकः प्रियां प्रियाशोकवनां शुशोच॥
सौ० ७।५॥

'जो शरणागतों का शोक हरण करने वाला और अभिमानियों को शोक प्रदान करने वाला था वह स्वयं शोकयुक्त होकर अशोकवृक्ष का सहारा लेकर भी अशोक वन को चाहने वाली अपनी प्रिया के लिये शोक करने लगा।'

---

१. नलिन, ब्रह्मचारी व्रजमोहन पाण्डेय, सौन्दरनन्द: साहित्यिक एवं दार्शनिक गवेषणा, पृ० ११९।

पुष्पावनद्धे तिलकद्रुमस्य दृष्ट्वान्यपुष्टां शिखरे निविष्टाम् ।
सङ्कल्पयामास शिखां प्रियायाः शुक्लांशुकेऽट्टालमपाश्रितायाः ॥ ७।७ ॥

'तिलक नामक वृक्ष के फूलों से भरे हुए शिखर पर कोयल को बैठा देखकर उसने अट्टालिका पर खड़ी सफेद वस्त्र वाली प्रिया की शिखा की कल्पना की।'

अश्वघोष के प्रकृति-वर्णन में कहीं कहीं अत्यन्त स्वाभाविकता के भी दर्शन होते हैं। दशम सर्ग में वर्णित प्रफुल्ल प्रकृति का सुन्दर-कल्पना-युक्त एक चित्रण प्रस्तुत है—

रक्तानि फुल्लाः कमलानि यत्र प्रदीपवृक्षा इव भान्ति वृक्षाः।
प्रफुल्लनीलोत्पलरोहिणोऽन्ये सोन्मीलिताक्षा इव भान्ति वृक्षाः॥
सौ० १०।२१ ॥

'जहाँ लाल कमलों से युक्त पेड़ दीपवृक्षों (दीयटों) की तरह दिखाई दे रहे थे और नीलकमलों वाले पेड़ ऐसे सुशोभित हो रहे थे जैसे उनकी आंखें खुल गई हों।'

अश्वघोष की प्रकृति कहीं कहीं उपदेशक के रूप में भी प्रकट हुई है। दशम सर्ग से एक उदाहरण प्रस्तुत है—

नगान्नगस्योपरि देवदारूनायासयन्तः कपयो विचेरुः।
तेभ्यः फलं नापुरतोऽपजग्मुर्मोघप्रसादेभ्य इवेश्वरेभ्यः॥
सौ० १०।१४॥

'एक पर्वत से दूसरे पर्वत पर जाकर देवदारु के वृक्षों को क्लेशित करने वाले बन्दर घूम रहे थे। उन वृक्षों से फल न मिलने पर वे वहां से इस प्रकार हट गए जिस प्रकार निष्फल कृपा वाले धनिकों से (याचक गण)।'

महाकवि अश्वघोष ने भावों में तीव्रता लाने के लिये भी अनेक स्थलों पर प्रकृति से रमणीय उपमानों का चयन किया है—

तस्या मुखं तत् सतमालपत्रं ताम्राधरौष्ठं चिकुरायताक्षम्।
रक्ताधिकाग्रं पतितद्विरेफं सशैवलं पद्ममिवाबभासे॥
सौ० ४।२१ ॥

'उसका वह मुख, जो तमालपत्र से युक्त था, जिसके ओष्ठ ताम्रवर्ण थे और जिसकी आंखें चञ्चल तथा लम्बी थीं, उस कमल के समान सुशोभित हुआ जो सेवाल से युक्त हो, जिसका अग्रभाग लाल हो और जिसपर भौंरे बैठे हों।'

सुन्दरी के शोक से अनुतप्त आंसुओं से भीगने के कारण विषण्ण मुख वाली स्त्रियां ऐसी दिखाई दे रही थीं जिस प्रकार वर्षा के जल से आर्द्र कमलों वाली पद्मिनियां—

बाष्पेण ताः क्लिन्नविषण्णवक्त्रा वर्षेण पद्मिन्य इवार्द्रपद्माः।
स्थानानुरूपेण यथाभिमानं निलिल्यिरे तामनु दह्यमानाः॥
सौ० ६।३६ ॥

अश्वघोष के प्रकृति-वर्णन का उपसंहार हम भोलाशङ्कर व्यास के इन शब्दों में कर सकते हैं —"अश्वघोष में प्रकृति के प्रति बाल्मीकि तथा कालिदास जैसा मोह नहीं दिखाई देता। भिक्षु अश्वघोष के लिये सम्भवतः प्रकृति भी विकृति का कारण रही हो। पर इतना तो निश्चित है कि प्रकृति वर्णन का जो भेद हमें वाल्मीकि और कालिदास में मिलता है, उसके बीज अश्वघोष में भी हैं।······ बाल्मीकि प्रकृति को प्रकृति के शुद्ध लावण्य की दृष्टि से अधिक देखते हैं, अर्थात् वाल्मीकि की प्रकृति आलम्बन अधिक बनकर आती है, उद्दीपन कम। कालिदास में प्रकृति मानवस्वभाव से आक्रान्त होती है, वह मानव के दुःख-सुख से दुःखी-सुखी होती दिखाई देती है, साथ ही मानव के उद्दीपन की सामग्री को विशेष लाती है।······अश्वघोष का सौन्दरनन्द, सप्तमसर्ग, का प्रकृति-वर्णन इसी प्रवृत्ति का संकेत करता है।"[1]

(च) भाषा और शैली —जैसा कि पहले कहा जा चुका है अश्वघोष के लिये काव्य साध्य नहीं, वरन् साधन है। उसने सौन्दरनन्द (१८।६३) में स्वयं स्वीकार किया है—"मोक्षधर्म की व्याख्या से परिपूर्ण यह कृति शान्ति के लिये है न कि आनन्दप्राप्ति के लिये। अन्य विचारों वाले श्रोताओं को आकृष्ट करने के लिये यह कृति काव्यशैली में रची गई है। इसमें मोक्षधर्म के अतिरिक्त मैंने जो कुछ कहा है, वह इसे काव्य-धर्म के अनुसार सरल बनाने के लिये ही, जैसे कि कटु औषध को पीने योग्य बनाने के लिये उसे मधु से मिश्रित किया जाता है।" इसीलिये उसने अपने अन्य काव्यों की तरह सौन्दरनन्द की रचना भी सरल तथा सुबोध भाषा और सरल शैली में की है। विद्वानों ने अश्वघोष की भाषा का सूक्ष्म विवेचन किया है।[2] नीचे केवल कुछ मुख्य विशेषताओं पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है।

अश्वघोष का जन्म किसी विद्वान् ब्राह्मणकुल में हुआ था, इसलिये वह प्राचीन ब्राह्मण-परम्परा, संस्कृत-साहित्य और संस्कृत-भाषा के प्रचलित स्वरूप से भली प्रकार परिचित था। उसकी भाषा पर रामायण और महाभारत का तो प्रचुर प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, परन्तु बौद्ध संकर-संस्कृत का उसकी भाषा पर कोई प्रभाव दिखाई नहीं देता। ऐसा प्रतीत होता है कि कहीं कहीं पाणिनि के व्याकरण-नियमों का पूर्णतया पालन न करते हुए भी वह पाणिनीय शब्दानुशासन से सुतरां परिचित था। सौन्दरनन्द के द्वादश सर्ग में उसने पाणिनीय व्याकरण के दो नियमों की ओर संकेत किया है—

१. व्यास, भोलाशङ्कर, संस्कृतकविदर्शन, पृ० ६५-६६॥

२. Sen, S., *IHQ*, 1926, 657ff.; *JASB*, 1930, 181ff., Johnston, E.H., *The Buddhacarita*, Intro. pp. lxvii; Keith, A.B, *A History of Sanskrit Literature*, pp. 63-64; Bhattacharya, B.N. *Aśvaghoṣa: A Critical Study*, pp. 194-383; नलिन, ब्रह्मचारी व्रजमोहन पाण्डेय, सौन्दरनन्द : साहित्यिक एवं दार्शनिक गवेषणा, पृ० ७९-८०॥

(१) बभूव स हि संवेगः श्रेयसस्तस्य वृद्धये ।
धातुरेधिरिवाख्याते पठितोऽक्षरचिन्तकैः ।। सौ० १२।६।।

'वह संवेग उसके कल्याण की वृद्धि के लिये हुआ, जिस प्रकार वैयाकरणों के अनुसार एधि धातु की क्रियारूप में वृद्धि होती है।' यहाँ पाणिनीय व्याकरण सूत्र—एत्येधत्यूठ्सु (पा० ६।१।८६) की ओर संकेत किया गया है, जिसके अनुसार अवर्ण से परे एजादि एति, एधति और ऊठ् आने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धि-एकादेश होता है। इससे यह भी पता चलता है कि कवि पाणिनीय धातुपाठ में एध वृद्धौ से भी परिचित है।

(२) न तु कामात् मनस्तस्य केनचिज्जगृहे धृतिः ।
त्रिषु कालेषु सर्वेषु निपातोऽस्तिरिव स्मृतः ।।
सौ० १२।१०।।

'काम के कारण उसके मनमें किसी भी प्रकार से किसी भी समय में धैर्य नहीं हुआ (अर्थात् उसके मन की चञ्चलता सदा बनी ही रही), जिस प्रकार अस्ति निपात का प्रयोग तीनों ही कालों में बताया जाता है।' यहाँ पाणिनि के सूत्र—चादयोऽसत्त्वे (पा० १।४।५७) की ओर संकेत है जिसके अनुसार अस्ति तिङन्त पद न होकर उसे चादिगण में अव्यय के रूप में पढ़ा गया है।

श्लिष्टा भवेन्मामपि सुन्दरीति (सौ० ७।८) में श्लिष्टा के योग में द्वितीया का प्रयोग पाणिनीय सूत्र—गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च (पा० ३।४।७२) के अनुसार हुआ है।

अश्वघोष जहाँ पाणिनीय नियमों का पालन करता दिखाई नहीं देता वहाँ प्रायः वह रामायण और महाभारत के प्रयोगों से प्रभावित प्रतीत होता है। परन्तु कुछ ऐसे भी प्रयोग हैं जिन्हें हम केवल बौद्ध प्रभाव के अन्तर्गत ही स्थान दे सकते हैं।

वर्ष (नपुं०) सौ० २।५३, प्रकोष्ठ (नपुं) सौ० ६।२७ और मित्र (पुं) में लिङ्गव्यत्यय लिपिक के प्रमाद के कारण हो सकता है। मया और त्वया (तृ० ए०) के स्थान पर मे और ते का प्रयोग रामायण और महाभारत में उपलब्ध होते हुए भी व्याकरण सम्मत नहीं माना जा सकता। सौ० १४।२२ में बाध्यमानेन से अन्वित ते इसका स्पष्ट उदाहरण है।

अवर्धिष्ट गुणैः शश्वदवृधन् मित्रसम्पदा । अवर्तिष्ट च वृद्धेषु नाऽवृतद् गर्हिते पथि (सौ० २।२६) के पूर्वार्द्ध में वृध् 'वर्धने' (भ्वा० आत्म० सेट्) के लुङ् लकार में आत्मनेपद और परस्मैपद के वैकल्पिक प्रयोगों से और इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में वृत् 'वर्तने' (भ्वा० आत्म० सेट्) धातु के लुङ् लकार में आत्मनेपद और परस्मैपद के वैकल्पिक प्रयोगों से कवि के व्याकरण-विषयक गम्भीर ज्ञान का पता चलता है।

निम्नलिखित पद्यों के प्रत्येक अर्द्धर्चं के अन्त में अमीमपत् (लुङ्, प्र० पु०, ए० व०) का प्रयोग हुआ है। दोनों श्लोकों के द्वितीय पाद के अन्त में मा 'माने' (अदा०), प्रथम श्लोक के चतुर्थ पाद के अन्त में मा 'मानशब्दयोः' (जुहो०) और द्वितीय श्लोक के चतुर्थ पाद के अन्त में मी(ञ्) हिंसायाम्' (क्र्या०) का प्रयोग कवि के प्रकृष्ट व्याकरणिक ज्ञान का सूचक है—

अश्रान्तः समये यज्वा यज्ञभूमिममीमपत्।
पालनाच्च द्विजान् ब्रह्म निरुद्विग्नानमीमपत्॥
गुरुभिर्विधिवत् काले सौम्यः सोममभीमपत्।
तपसा तेजसा चैव द्विषत्सैन्यममीमपत्॥ सौ० २।३५-३६॥

निम्नलिखित पद्य में ग्रह् धातु का लिट्, प्रथमपुरुष, एकवचन का रूप चारों पादों में चार विभिन्न उपसर्गों के साथ चार अलग अलग अर्थों में प्रयुक्त हुआ है—

प्रणताननुजग्राह विजग्राह कुलद्विषः।
आपन्नान् परिजग्राह निर्जग्राहाऽस्थितान् पथि॥ सौ० २।१०॥

इसी प्रकार निम्न श्लोक में मीयते का प्रयोग विभिन्न उपसर्गों के साथ विभिन्न अर्थों में चारों पादों में किया गया है। प्रथम पाद में वह √मा(ङ्) 'माने शब्दे च' (जुहो०) का रूप है, दूसरे पाद में √मी(ङ्) 'हिंसायाम्' (क्र्या०) का रूप है, तीसरे पाद में √मा 'माने' (अदा०) का और चौथे पाद में √मा 'हिंसायाम्' का अकर्मक अर्थ में रूप है—

यत्र स्म मीयते ब्रह्म कैश्चित् कैश्चिन् न मीयते।
काले निमीयते सोमो न चाकाले प्रमीयते॥ सौ० १।१५॥

सौन्दरनन्द में बुद्धचरित की तरह भूतकाल के अर्थ में लङ्, लुङ् और लिट् तीनों लकारों का सामान्य रूप से प्रयोग किया गया है, पर लिट् के प्रयोगों का बाहुल्य है। द्वितीय सर्ग में कवि ने अपने लुङ् लकार सम्बन्धी ज्ञान का ऐसा प्रदर्शन किया है कि भट्टिकाव्य का सा वातावरण प्रस्तुत हो गया है। उदाहरण के लिये निम्न पद्य देखिये—

अध्यैष्ट यः परं ब्रह्म न व्यैष्ट सततं धृतेः।
दानान्यदित पात्रेभ्यः पापं नाकृत किञ्चन॥ २।१२॥
शरैरशीशमच्छत्रून् गुणैर्बन्धूनरीरमत्।
रन्ध्रैर्नाचूचुदद् भृत्यान् करैर्नापीपिडत् प्रजाः॥ २।२७॥

तेनापायि यथाकल्पं सोमश्च यश एव च (सौ० २।४४) में √पा 'पाने' और √पा 'रक्षणे' इन दो धातुओं के एक ही रूप अपायि का प्रयोग करके अभङ्ग-शब्द-श्लेष की सृष्टि से कवि ने अपने व्याकरण-शास्त्रीय और काव्य-शास्त्रीय ज्ञान के गाम्भीर्य का परिचय दिया है।

लिट् लकार के प्रयोग में भी कवि सिद्धहस्त है। निम्न एक ही पद्य में १२ रूपों का प्रयोग हुआ है और उसमें भी क्रमशः अकारान्त और औकारान्त रूपों के प्रयोग से कवि ने एक लयात्मकता उत्पन्न कर दी है—

रुरोद मम्लौ विरुराव जग्लौ बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ।
चकार रोषं विचकार माल्यं चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रम् ॥

सौ० ६।३४ ॥

सन्नन्त रूपों के प्रति कवि का विशेष मोह है। प्रविविक्षति, तितीर्षति, जिघृक्षति आदि क्रिया-रूप, विविक्षु, जिघांसु, जिजीविषु, यियासु, दिदृक्षु आदि विशेषण-रूप, चिकित्सयित्वा आदि क्त्वा-रूप, जिघृक्षन्, उज्जिहीर्षन् आदि शत्रन्त रूप और चिकीर्षित आदि क्तान्त रूपों का कवि ने जी भर कर प्रयोग किया है।

अश्वघोष ने कुछ अप्रचलित शब्दों का विलक्षण अर्थों में प्रयोग किया है। ये शब्द या तो कवि के काल में प्रचलित रहे होंगे या उसने समकालिक लोक-भाषाओं से लिये होंगे। उदाहरण के लिये– तर्ष 'प्यास' (२।१६), विनाकृत 'अलग किया गया' (८।२०), अकथंकथः 'जिज्ञासाहीन' (२।३२), नन्दी 'आनन्द' (८।४४), श्रद्धानता 'विश्वास' (१२।३०), विभीः 'भयभीत' (१७।६१), आदि।

अश्वघोष में कर्ता कारक का प्रयोग प्रायः सामान्य है, परन्तु विजग्राह कुलद्विषः (सौ०२।१०), प्रयियासा गृहमेव येन (सौ० ८।१३), तदिदं त्वा विवक्षामि (११।१८) आदि में कुलद्विषः, गृहम् और त्वा में द्वितीया का प्रयोग खटकता है। व्यरोचिष्ट च शिष्टेभ्यः (२।१४) और नैष्कर्म्यायोत्सुकं मनः (१२।२१) में विरल धातु वि√रुच् और उत्सुक के योग में चतुर्थी का प्रयोग अश्वघोष का अपना ही है। यावदेव विमुक्तये (१३।१६) और न रागेण न भक्तये (१४।१६) में चतुर्थी का प्रयोग स्पष्ट नहीं है। श्रेष्ठतम दुःखतम, (५।२४), प्रवर, परम (५।२५), निःसारतम (८।११) आदि के साथ निर्धारणार्थ में षष्ठी और सप्तमी को छोड़कर पञ्चमी का प्रयोग पाणिनीय व्याकरण के विरुद्ध है। अन्य बौद्ध लेखकों की तरह पञ्चमी और तृतीया के स्थान पर तः (तसिल्) के प्रयोग के प्रति भी अश्वघोष को मोह है। यथा—सम्भारतः प्रत्ययतः स्वभावादास्वादतो दोषविशेषतश्च (१७।१५)। सामान्यतः स्वेन च लक्षणेन (१६।४८) में तृतीयार्थ में तः का प्रयोग दर्शनीय है। 'जानना, समझना' अर्थ वाली क्रियाओं के योग में तः के कुछ विलक्षण प्रयोग देखिये —शुभतो गच्छसि 'तू शुभ समझता है' (८।४८), रूक्षतो नैति 'रूखा नहीं जानता है' (११।१५), द्रष्टव्यं भूततः भूतम् 'रूप को ठीक ठीक समझना चाहिये' (१३।४४), मा स्वामिनं·· दोषतो गाः 'स्वामी को दोषी मत जान' (६।२२), आदि। मम धारयित्वा (६।१८) में चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग चिन्त्य है। कृत्वा मयि तां प्रतिज्ञाम् (६।१३) कृत्वा मयि मोघसान्त्वम् (६।१६), मयि सोऽपदेशः

(६।१७) आदि में सप्तमी का प्रयोग चतुर्थी के स्थान पर हुआ है। चतुर्थी के स्थान पर सप्तमी का एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है—अहं च तेऽत्र प्रतिभूः स्थिरे व्रते (१०।६३), तुलनीय है—अप्सरःप्राप्तये यन्मे भगवन् प्रतिभूरसि (१२।१३)। अश्वघोष ने √नम् और प्रणाम के योग में चतुर्थी और द्वितीया के अतिरिक्त अनेकशः चतुर्थी का प्रयोग भी किया है—मुनये ननाम स यतो गुराविव (३।२७), महामुनौ भक्तिवशात् प्रणेमुः (५।८), कर्तुं गमिष्यामि गुरौ प्रणामम् (४।३२)। सन्नन्त रूपों के साथ सप्तमी का प्रयोग भी किया गया है, यथा—शिवे कथं ते पथि नारुरुक्षा (५।४०), यतो दिदृक्षास्य मुनौ बभूव (१८।२), त्वयि मे बिदृक्षा (१८।३३)। कामेष्वजस्रं प्रममाद नन्दः (२।६३) में प्र √मद् 'आनन्द प्राप्त करना' के योग में काम में सप्तमी का प्रयोग वैदिक है।

अथोदकलशं गृह्य (१।२८) में गृह्य के अन्दर उपसर्ग के विना ही क्त्वा के स्थान पर ल्यप् का आदेश रामायण और महाभारत के प्रयोगों के तुल्य है। शुद्ध रूप मैत्री के साथ साथ अश्वघोष ने आकारान्त मैत्रा का प्रयोग भी किया है, यथा—श्रमणः कश्चिदुवाच मैत्रया (८।१)। अश्वघोष ने चेत् के स्थान पर स चेत् का बहुशः प्रयोग किया है, यथा—सचेद् भवेस्त्वं खलु दीर्घसूत्रः (४।३५), सचेत् प्रहर्षश्चर धर्मप्राहृतः (१०।६०), एकेन कल्पेन सचेन्न हन्यात् (१६।७०)। यहाँ एक बात विशेष है। संस्कृत साहित्य में जहाँ चेत् का प्रयोग कभी वाक्य या पाद के आदि में नहीं हो सकता, वहाँ अश्वघोष ने सचेत् का प्रयोग पादों के आदि में भी किया है। किं पुनर् के अर्थ में प्रागेव मूलरूप में बौद्ध प्रयोग है। उदाहरण—कृतागसोऽपि प्रणतान् प्रागेव प्रियकारिणः (२।२४)।

बौद्ध परम्परा से किञ्चिन्मात्र प्रभावित होते हुए और पाणिनीय अनुशासन का अनेकशः उल्लङ्घन करते हुए भी अश्वघोष के काव्यों की भाषा कालिदास के पूर्व वर्तमान लौकिक संस्कृत ही है। रामायण और महाभारत की सरलता की उसपर पूरी छाप है। उसने वैदर्भी शैली का आश्रय लिया है। उसके काव्य में लम्बे समासों का नितान्त अभाव है। माधुर्य, औदार्य और प्रसाद गुण उसमें यथोचित मात्रा में उपलब्ध हैं। उसकी शैली में कृत्रिमता और प्रयास-साध्यता का नितान्त अभाव है। संस्कृत साहित्य के विकास में महाकवि अश्वघोष का नाम सदा सर्वदा सम्मान के साथ लिया जाता रहेगा।

श्रों नमो बुद्धाय

आर्यभदन्ताश्वघोषविरचिते

सौन्दरनन्दमहाकाव्ये

पञ्चमः सर्गः

नन्दप्रव्राजनम्

अथावतीर्याश्वरथद्विपेभ्यः
शाक्या यथास्वर्द्धि गृहीतवेषाः ।
महापणेभ्यो व्यवहारिणश्च
महामुनौ भक्तिवशात् प्रणेमुः ॥१॥

अन्वय :—अथ यथास्वर्द्धि गृहीतवेषाः शाक्याः अश्वरथद्विपेभ्यः अवतीर्य, व्यवहारिणः च महापणेभ्यः (अवतीर्य), महामुनौ भक्तिवशात् तं प्रणेमुः ॥१॥

टीका—अथ अनन्तरम्, यथास्वर्द्धि स्वा ऋद्धिः समृद्धिः स्वर्द्धिः ताम् अनतिक्रम्य, निजैश्वर्यानुसारेण, गृहीतवेषाः गृहीतः धृतः परिहितः वेषो नेपथ्य यैस्ते शाक्याः शाक्यवंश्याः अश्वरथद्विपेभ्यः अश्वाश्च रथाश्च द्विपाश्च अश्वरथद्विपम्—'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्' (पा० २।४।२) इत्यनेन प्राप्त एकवद्भावो न, सेनाङ्गत्वाविवक्षितत्वात् । 'ध्रुवम् अपायेऽपादानम्' (पा० १।४।२४) इत्यपादाने पञ्चमी । अवतीर्य अवरुह्य, व्यवहारिणः व्यवसायिनः वणिजः च, महापणेभ्यः महान्तश्च ते आपणाश्च महापणाः, 'आपणस्तु निषद्यायाम्' इत्यमरः (२।२।२), तेभ्यः अवतीर्य पण्यवीथिकायां रथ्यायां वा आगत्य महामुनौ बुद्धे भक्तिवशात् पूज्येष्वनुरागो भक्तिः, तद्वशात् तत्कारणात् तम् बुद्धम् प्रणेमुः नमश्चक्रुः नतवन्तः । सर्गेऽस्मिन् उपजातिवृत्तम् उत्तमपद्यवर्जम् ॥१॥

टिप्पणी—अथ 'अथानन्तरकल्याणसम्प्रश्नादिषु कथ्यते' इति हलायुधः (८८६) । गृहीतवेषाः वेवेष्टि व्याप्नोति अङ्गं वेषः, पचादित्वाद् अच्, मूर्धन्यान्तः, विशतो मनो नेत्रम् अत्र इत्याधारे घञि वेशः तालव्यान्तश्च । शाक्याः शकोऽभिजनो येषां ते, शण्डिकादिभ्यः ञ्यः, यद्वा शाके शाकवृक्षच्छाये भवाः स्थिताः, रेगाबि-

त्वाद् यत्, उक्तञ्च प्रथमे सर्गे—शाकवृक्षप्रतिच्छन्नं वासं यस्माच्च चक्रिरे । तस्मादिक्ष्वाकुवंश्यास्ते भुवि शाक्या इति स्मृताः ।। (सौ० १।२४) प्रणेमुः । प्र√नम्, लिट्, प्र० पु०, ब० व० ।।

भा० अनुवादः—तत्पश्चात् अपने अपने ऐश्वर्य के अनुसार वेष धारण करने वाले शाक्यों ने घोड़ों रथों और हाथियों से उतर कर और दुकानदारों ने विशाल दुकानों से उतर कर महामुनि (बुद्ध) के प्रति भक्ति के कारण उसे नमस्कार किया ।।१।।

Eng. Then the Śākyas, dismounting from their horses, chariots and elephants and clothed according to their wealth, devoutly made obeisance to the Great Sage, as did the merchants from their great shops. 1

केचित् प्रणम्यानुययुर्मुहूर्त्तं
केचित् प्रणम्यार्थवशेन जग्मुः ।
केचित् स्वकेष्वावसथेषु तस्थुः
कृत्वाञ्जलीन् वीक्षणतत्पराक्षाः ।।२।।

अन्व०—केचित् प्रणम्य मुहूर्त्तं (तम्) अनुययुः, केचित् प्रणम्य अर्थवशेन जग्मुः, केचित् स्वेषु आवसथेषु अञ्जलीन् कृत्वा वीक्षणतत्पराक्षाः तस्थुः ।।२।।

टी०—केचित् शाक्याः व्यवहारिणश्च प्रणम्य नमस्कृत्य मुहूर्त्तम् क्षणं यावत् तम् बुद्धम् अनुययुः अनुजग्मुः, केचित् केचन जनाः प्रणम्य नत्वा अर्थवशेन अर्थः कारणम् अभिप्रायः प्रयोजनम्, अभिधेयाभिप्रायप्रयोजनद्रव्यवाचकेष्वर्थः इति हलायुधः, तस्य वशेन जग्मुः निर्जग्मुः निष्क्रान्ताः, केचित् केचन च स्वेषु स्वकीयेषु आवसथेषु गृहेषु, आवसन्ति आगत्य वसन्ति अस्मिन् (आङ्० + √वस् + अथुच्), आवसथ इति प्रायेणातिथिगृहं भवति । अञ्जलीन् कृत्वा करौ बद्ध्वा वीक्षणतत्पराक्षाः वीक्षणे बुद्धस्य दर्शने तत्परे अक्षिणी नेत्रे येषाम् ते । बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच् (पा० ५।४।११३) इत्यनेन समासान्तः षच् । तस्थुः स्थितिं चक्रुः स्थिताः ।।२।।

भा० अनु० :—कुछ तो प्रणाम करके क्षणभर के लिये उसका अनुगमन करते रहे, कुछ प्रणाम करके प्रयोजनवश चले गए, (और) कुछ अपने घरों में हाथ जोड़कर आंखों से टकटकी लगाकर उसे देखने लगे ।।२।।

Eng. Some paying reverence to Him followed Him a moment, others after making obeisance went away under stress of their business, while others stood in their dwellings with hands clasped in adoration and eyes absorbed in gazing. 2

टि०—अनुययुः अनु√या, लिट्, प्र० पु०, ब० व० । प्रणम्य प्र√नम् क्त्वा (ल्यप्), प्रकर्षेण नत्वा । जग्मुः √गम्, लिट्, प्र० पु०, ब० व० ।

तस्थुः √स्था, लिट् प्र० पु० ब० व० ।

बुद्धस्ततस्तत्र नरेन्द्रमार्गे
स्रोतो महद् भक्तिमतो जनस्य ।
जगाम दुःखेन विगाहमानो
जलागमे स्रोत इवापगायाः ॥३॥

अन्वयः—ततः बुद्धः तत्र नरेन्द्रमार्गे जलागमे आपगायाः स्रोतः इव भक्तिमतो जनस्य महत् स्रोतः दुःखेन विगाहमानः जगाम ॥३॥

टी०—ततः तदनन्तरम् बुद्धः तथागतः शाक्यो मुनिः तत्र तस्मिन् नरेन्द्रमार्गे राजमार्गे जलागमे वर्षाकाले आपगायाः नद्याः, स्रोतः ओघं प्रवाहम् इव यथा भक्तिमतो जनस्य अनुरक्तानां जनानाम् 'जात्याख्यायाम् एकस्मिन् बहुवचनम् अन्यतरस्याम् (पा० १।२।५८), महत् स्रोतः महान्तम् ओघम् दुःखेन आयासेन विगाहमानः तरन् पारं गच्छन् जगाम ययौ । उपमालङ्कारः । लक्षणं च तस्य— 'साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः' (सा० द० १०।१४) ॥३॥

टि०—आपगा अपां समूहः आपम्—'तस्य समूहः' (पा० ४।२।३७) इत्यण्, तत आपगेन जलसमूहेन गच्छति प्रचलतीति आपगा [आप+गम्+डा+टाप्] । विगाहमानः वि √गाह्+अ (शप्)+मान (मुट्+शानच्), प्रथमा, ए० व० । जगाम √गम्, लिट्, प्र० पु०, ए० व० ।

भाषा—उसके पश्चात् बुद्ध उस राजमार्ग पर वर्षाकाल में नदी के प्रवाह की तरह भक्त जनों के महान् समूह को कठिनता से पार करता हुआ चलता गया ॥३॥

Eng. Then the Buddha went along, cleaving the great stream of devout people there on the royal highway with as much difficulty as if he were entering the stream of a river at the onset of the rains.

अथो महद्भिः पथि सम्पतद्भिः
सम्पूज्यमानाय तथागताय ।
कर्तुं प्रणामं न शशाक नन्दस्
तेनाभिरेमे तु गुरोर्महिम्ना ॥४॥

अन्वय :—अथो नन्दः पथि सम्पतद्भिः महद्भिः सम्पूज्यमानाय तथागताय प्रणामं कर्तुं न शशाक, तेन गुरोः महिम्ना तु अभिरेमे ।

टी०—अथो तदनन्तरम्, "अथानन्तरकल्याणसम्प्रश्नादिषु कथ्यते । अथो इति" इति हलायुधकोशः, नन्दः बुद्धस्य वैमात्रेयो भ्राता पथि मार्गे, सम्पतद्भिः संगच्छमानैः सम्भूय इतस्ततः भ्रमद्भिः महद्भिः महाजनैः हेतुभूतैः (हेतौ—पा० २।३।२३) इति तृतीया) सम्पूज्यमानाय सत्क्रियमाणाय तथागताय बुद्धाय प्रणामं कर्तुं न शशाक प्रणन्तुं वन्दितुम् वा समर्थो नाभवत्, अत्र क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यमिति चतुर्थी । तेन गुरोः अग्रजस्य बुद्धस्य महिम्ना माहात्म्येन प्रभुत्वेन तु अभिरेमे ननन्द जहर्ष ।।४।।

टि० : शशाक √शक्, लिट्, प्र०पु, ए०व० । अभिरेमे अभि√रम्, लिट्, प्र०पु०, ए०व० । तु भेदे; 'तु स्याद् भेदेऽवधारणे' इति हलायुधः ।

भा०—तत्पश्चात् मार्ग में चलने वाले महान् जनों के कारण नन्द सत्कार किये जाते हुए बुद्ध को प्रणाम न कर सका, परन्तु बड़े भाई की उस महिमा से वह आनन्दित हुआ ।।४।।

Eng. Thus Nanda was unable to make obeisance to the Tathāgata because of the noblemen flocking to salute him in the road, but he rejoiced in the exaltation of the Guru.

स्वं चावसङ्गं पथि निर्मुमुक्षुर्
भक्तिं जनस्यान्यमतेश्च रक्षन् ।
नन्दं च गेहाभिमुखं जिघृक्षन्
मार्गं ततोऽन्यं सुगतः प्रपेदे ।।५।।

अन्व० : ततः पथि स्वम् अवसङ्गं च निर्मुमुक्षुः, अन्यमतेः जनस्य भक्तिं च रक्षन्, गेहाभिमुखं नन्दं च जिघृक्षन् सुगतः अन्यं मार्गं प्रपेदे ।।५।।

टी० : ततः तदनन्तरं पथि मार्गे स्वम् स्वकीयम् अवसङ्गम् अनुयायिनं जनम् इति शेषः निर्मुमुक्षुः, निःशेषेण मोक्तुम् इच्छुः, अन्यमतेः अन्या मतिः विचारः यस्य तस्य जनस्य जनानाम् 'जात्याख्यायाम् एकस्मिन् बहुवचनम् अन्यतरस्याम्' (पा०१।२।५८) इत्यनेन बहुवचनार्थे एकवचनस्य प्रयोगः, भक्तिम् श्रद्धाम् उपास्य-देवतानुरक्तिम् च रक्षन् अहिंसन्, गेहाभिमुखम् गृहवासप्रवणम् नन्दम् सुन्दर्याः पतिम् च जिघृक्षन् ग्रहीतुम् वशीकर्तुम् इच्छन् सुगतः तथागतः बुद्धः अन्यम् इतरम् मार्गम् पन्थानम् प्रपेदे गृहीतवान् ।।५।।

---

5. Pāda *a* also means, 'wishing to bring emancipation to his following (? kinsfolk) on the right path'. With this translation and taking *anya* to refer to Sundarī, we could give the first line a secondary sense with reference to Nanda, by making both *avasaṅgam* and *janasya* refer to him. —Johnston

टि० : अवसङ्गः (अव+सम्√गम्+अ) इत्ययं शब्दोऽप्रयुक्तः संस्कृतवाङ्मये । अवसङ्गम् इत्यस्य पदस्य अर्थविषये अनुयायिनं जनम् इत्यस्य स्थाने बन्धुजनम् इत्ययमर्थो गृह्येत चेत्, अन्यमतेः इत्यस्मिन् पदे अन्य इत्यनेन सुन्दर्या ग्रहणं क्रियेत-चेत् पूर्वार्धोऽपि नन्दविषयेऽन्वितः स्याद् इति जॉन्स्टनमहोदयः । निर्मुमुक्षुः निर्√मुच्+सन्+उ, प्रथमा, ए०व० । जिघृक्षन् √ग्रह्+सन्+शतृ, प्रथमा, ए०व० । सुगतः शोभनं गतं ज्ञानं यस्य सः सुगतः, तथा तथ्यं ज्ञानम् अस्येति तथागतः । प्रपेदे प्र√पद्, लिट्, प्र० पु०, ए०व० ।

अर्थ : उसके पश्चात् मार्ग में अपने अनुयायियों को छोड़ने की इच्छा वाले, अन्य विचारों वाले जनों की (अपने उपास्य देव में) भक्ति की रक्षा करते हुए और गृहवास के इच्छुक नन्द को वश में करना चाहते हुए तथागत ने अन्य मार्ग का आश्रय लिया ॥५॥

Eng. Then as the Blessed One desired to be free of his own following on the road, while retaining the devotion of those who followed other creeds, and wished to lay hold of Nanda who was turning homewards, he took another road.

ततो विविक्तं च विविक्तचेताः
सन्मार्गविन् मार्गमभिप्रतस्थे ।
गत्वाग्रतश्चाग्र्यतमाय तस्मै
नान्दीविमुक्ताय ननाम नन्दः ॥६॥

अन्वय :—ततः च सन्मार्गविद् विविक्तचेताः (बुद्धः) विविक्तं मार्गम् अभिप्रतस्थे । नन्दः च अग्रतः गत्वा अग्र्यतमाय नान्दीविमुक्ताय तस्मै (बुद्धाय) ननाम ॥६॥

टी० : ततः तत्पश्चात् च सन्मार्गविद् सतां मार्गः सन्मार्गः तं वेत्ति इति सत्पुरुषाणां पथो वेदिता सत्यपथप्रज्ञः विविक्तचेताः विशेषेण विक्तं अनासक्तं चेतः मनो यस्य सः, अननुरक्तबुद्धिः विवेकशीलो वा, विविक्तम् विशेषेण पृथग्भूतम् अन्यैः जनैः असेवितम् निर्जनम् इति यावत् मार्गम् पन्थानम् अभिप्रतस्थे प्रस्थितः । नन्दः बुद्धस्य वैमात्रेयो भ्राता च अग्रतः अग्रे गत्वा अभिगम्य अग्र्यतमाय अग्रियाय उत्तमाय ज्येष्ठभ्रात्रे वा, नान्दीविमुक्ताय नान्दी आनन्दः हर्षः प्रशंसा वा तद्-विमुक्ताय हर्षप्रशंसादिरहिताय तस्मै बुद्धाय ननाम नमश्चकार ॥६॥

टि० : विविक्तः विविक्तौ पूतविजनौ इत्यमरः (३।३।८२) । अभिप्रतस्थे अभि+प्र√स्था, लिट्, आत्म०, प्र०पु०, ए० व० । ननाम√नम्, लिट्, प्र०पु०, ए० व० ।

भा०—और उसके पश्चात् सन्मार्ग को जानने वाला, अनासक्त मन वाला (बुद्ध) एकान्त मार्ग पर चल पड़ा । और नन्द ने आगे बढ़कर श्रेष्ठ और हर्ष प्रशंसा आदि से रहित उस बुद्ध को नमस्कार किया ॥६॥

Eng. Then he who knew the good Path and whose mind had attained discrimination entered a lonely lane, and Nanda, going in front, made obeisance to the foremost leader, who (in his equanimity) was untouched by the feeling of delight.

शनैर्व्रजन्नेव स गौरवेण
पटावृतांसो विनतार्धकायः ।
अधोनिबद्धाञ्जलिरूर्ध्वनेत्रः
सगद्गदं वाक्यमिदं बभाषे ॥७॥

अन्वय :—गौरवेण शनैः व्रजन् एव पटावृतांसः, विनतार्धकायः, अधोनिबद्धाञ्जलिः, ऊर्ध्वनेत्रः स (नन्दः) सगद्गदम् इदं वाक्यं बभाषे ॥७॥

टी० : गौरवेण गुरोर्भावः गुरुत्वम् आदरः तेन, 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात्' (पा०५।१।१३१) इत्यण्, शनैः मन्दं मन्दम् व्रजन्नेव गच्छन्नेव पटावृतांसः पटेन वस्त्रविशेषेण प्रावारकेणेति यावत् आवृतः समन्ताद् आच्छादितः अंसः स्कन्धः यस्य सः, आच्छादितावंसौ यस्य स इति न, पटावृतैकांस एव बुद्धमभिभाषेतेति बौद्धपरम्परा, विनतार्धकायः अर्धं कायस्य अर्धकायः, विनतः प्रह्वीभूतः अर्धकायः यस्य सः, अधोनिबद्धाञ्जलिः अधः अधस्तात् निबद्धः कृतः अञ्जलिः येन सः, ऊर्ध्वनेत्रः ऊर्ध्वम् उपरिष्टात् गते नेत्रे अक्षिणी यस्य सः (नन्दः), सगद्गदम् स्खलिताक्षरम् अश्रुभिः कण्ठे रुद्धया वाचा इत्यर्थः । इदम् एतद् वाक्यम् वचनम् बभाषे उवाच ॥७॥

टि० बभाषे भाष् (आत्म०), लिट्, प्र०पु०, ए०व० ।

अर्थ : गौरव के साथ धीरे-धीरे जाते हुए ही शाल से ढके हुए एक कंधे वाले, झुके हुए आधे शरीर वाले, नीचे की ओर हाथ जोड़े हुए, ऊपर की ओर हुई आंखों वाले उस नन्द ने आंसुओं से रुंधे हुए गले के साथ यह वचन कहा ॥७॥

Eng. While walking along slowly and respectfully, with one shoulder covered by his shawl and his body half-bowed, with hands clasped downwards and eyes uplifted, he uttered this speech with sobs.

प्रासादसंस्थो भगवन्तमन्तः
प्रविष्टमश्रौषमनुग्रहाय ।
अतस्त्वरावानहमभ्युपेतो
गृहस्य कक्ष्यामहतोऽभ्यसूयन् ॥८॥

---

7. The Sanskrit could be translated, 'with his shoulders covered with his shawl;' but Buddhist tradition is unanimous that the Buddha should be addressed with only one shoulder covered.
—Johnston

अन्वय :—प्रासादसंस्थो (ऽहम्) अनुग्रहाय भगवन्तम् अन्तःप्रविष्टं अश्रौषम्; अतः कक्ष्यामहतः गृहस्य (भृत्येभ्यः) अभ्यसूयन् त्वरावान् अहं (भवन्तम्) अभ्युपेतः ॥८॥

टी० : प्रासादसंस्थः प्रासादं राजगृहम् आरुह्य सम्यक् तिष्ठति इति सोऽहम् इति शेषः अनुग्रहाय अस्मान् अनुग्रहीतुम् भगवन्तम् भवन्तम् अन्तः प्रविष्टम् प्रासादाभ्यन्तरे आगतम्, भवान् मम प्रासादमध्ये आगत इति अश्रौषम् अशृणवम्, अतः अस्मात् कारणात् कक्ष्यामहतः कक्ष्याभिः प्रकोष्ठैः महतः विशालस्य गृहस्य भृत्येभ्यः इति शेषः । निवासस्थानभूतस्य प्रासादस्य अभ्यसूयन् असूयन् कुप्यन्, तान् असहमान इत्यर्थः त्वरावान् त्वरितगतिः अविलम्बमानः अहं नन्दः अभ्युपेतः उपगतः भवन्तम् इति शेषः ॥८॥

टि० प्रासादः प्रसीदन्त्यस्मिन्निति, प्र√सद्+अ (घञ्) 'हलश्च' (पा० ३।३।१२१) इत्यनेन घञ् प्रत्ययः । उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् (पा०६।३।१२२) इति उपसर्गस्य दीर्घः । अनुग्रहाय अनुग्रहीतुम् 'तुमर्थाच्च भाववचनात्' (पा० २।३।१५) इत्यनेन चतुर्थी । अश्रौषम् √श्रु लुङ्, उ०पु०, ए० व० । त्वरावान् त्वरा+वत् (मतुप्), प्रथमा, ए०व० । अभ्यसूयन् । सुञ् कण्डवादिः । यक्, शता । अभिरर्थेनान्तरं करोति ।

भा० महल में स्थित (मैंने) (हम पर) अनुग्रह के लिये भगवान् को अन्दर आया हुआ सुना था । इसलिये प्रकोष्ठों से विशाल भवन के (सेवकों पर) क्रोध करता हुआ मैं अविलम्ब आप के पास आया हूं ॥८॥

Eng. I heard when I was on the roof that His Holiness had honoured us with a visit, so I came hurrying in my anger with (the neglgience of) my great household (of servants).

तत् साधु साधुप्रिय मत्प्रियार्थं
तत्रास्तु भिक्षूत्तम भैक्षकालः ।
असौ हि मध्यं नभसो यियासुः
कालं प्रतिस्मारयतीव सूर्यः ॥९॥

अन्वय : तत् साधुप्रिय भिक्षूत्तम मत्प्रियार्थं तत्र साधु भैक्षकालः अस्तु । नभसः मध्यं यियासुः हि असौ सूर्यः (भोजन) कालं प्रति स्मारयति इव ॥९॥

टी० : तत् तस्मात् साधुप्रिय साधूनां प्रिय, साधवः प्रियाः यस्येति वा; भिक्षूत्तम भिक्षूणां भिक्षुषु वा उत्तम मत्प्रियार्थम् मम प्रियं मत्प्रियम् तस्मै, मम प्रसन्नतायै, तत्र तस्मिन् मम प्रासादे साधु सम्यग्रूपेण भैक्षकालः भिक्षाचरणम् एव भैक्षम् तस्य कालः, अस्तु भवतु, तवेति शेषः । नभसः आकाशस्य मध्यं मध्यस्थानं शिखरं यियासुः जिगमिषुः गन्तुम् इच्छुः हि यस्मात् असौ सूर्यः रविः कालम् समयं भोजनस्य इति शेषः, प्रतिस्मारयति स्मृतिपथम् आनयति सूचयति, इव उत्प्रेक्षायाम् ॥९॥

टि० : यियासुः (√या+सन्+उ) 'जाने की इच्छा वाला'। प्रतिस्मारयति प्रति√स्मृ+णिच्, लट्, प्र०पु०, ए०व०। मत्प्रियार्थम् मत्प्रियाय इदं मत्प्रियार्थम्। अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति चतुर्थीतत्पुरुषः। अस्वपदविग्रहो नित्यसमासः।

भा० : इसलिये हे सज्जनों से प्यार करने वाले, भिक्षुजनों में श्रेष्ठ, मेरी प्रसन्नता के लिये उस मेरे प्रासाद में भली प्रकार (आपका) भिक्षाचरण का समय हो। क्योंकि आकाश के शिखर पर जाना चाहता हुआ सूर्य निश्चय से (भोजन) काल की सूचना सी दे रहा है ॥९॥

Eng. Therefore kindly, O lover of the virtuous, best of mendicants out of graciousness for me let thy time for questing alms be passed in our house; for there is the sun about to reach the centre of the firmament, recalling, as it were, that it is time (for the midday meal).

इत्येवमुक्तः प्रणतेन तेन
स्नेहाभिमानोन्मुखलोचनेन।
तादृङ् निमित्तं सुगतश्चकार
नाहारकृत्यं स यथा विवेद ॥१०॥

अन्व० : स्नेहाभिमानोन्मुखलोचनेन प्रणतेन तेन इत्येवम् उक्तः सुगतः तादृङ् निमित्तं चकार यथा सः आहारकृत्यं न विवेद ॥१०॥

टी० : स्नेहाभिमानोन्मुखलोचनेन स्नेहः हार्दम् प्रेमा अभिमानः गर्वः च, ताभ्याम् उन्मुखे उन्नते उत्सुके लोचने नयने यस्य तेन। स्नेहसम्मानोद्गतलोचनाभ्यां तं पश्यता प्रणतेन प्रह्वेण तेन नन्देन इत्येवम् इत्थम् उक्तः सम्बोधितः सुगतः बुद्धः तादृक् तादृशं निमित्तम् इङ्गितम् चकार अकरोत् यथा सः बुद्धः आहारकृत्यम् आहारप्रयोजनम् न विवेद न अवेदयत नानुबभूव ॥१०॥

टि० स्नेहः √स्निह+अ (घञ्), हार्दम्, प्रेमा 'दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा। यत्र द्रवत्यन्तरङ्गं स स्नेह इति कथ्यते' (गरुडपुराण—११३।५९)। सुगतः सु शोभनं गतं गमनं ज्ञानं वास्येति, बुद्धस्य एकादशसु नामसु एकम्—'शौद्धोदनिर्दशबलो बुद्धः शाक्यस्तथागतः सुगतः। मारजिदद्वयवादी समन्तभद्रो जिनश्च सिद्धार्थः'—हलायुधकोशः। आहारकृत्यम् भोजनकार्यं भोजनप्रयोजनम्। विवेद √विद् 'चेतनाख्याननिवासेषु to feel, to tell, to dwell' इत्यस्य प्रयोगः। धातोः लिटि वेदयाञ्चक्रे इत्यस्यार्थे विवेदेति विद् 'ज्ञाने' इत्यस्य लिटि वा रूपम्।

भा० : स्नेह और गर्व से ऊपर को उठी हुई आंखों वाले और भली प्रकार नत हुए उस (नन्द) के द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किये हुए बुद्ध ने ऐसा इङ्गित किया जैसे उसे आहार का प्रयोजन (उद्देश) महसूस नहीं हो रहा था ॥१०॥

Eng. So he addressed him humbly, with eyes that looked up at Him full of affection and reverence; but the Blessed One made a sign to show that He felt no need of food.

ततः स कृत्वा मुनये प्रणामं
गृहप्रयाणाय मतिं चकार ।
अनुग्रहार्थं सुगतस्तु तस्मै
पात्रं ददौ पुष्करपत्रनेत्रः ॥११॥

अन्वयः—ततः सः मुनये प्रणामं कृत्वा गृहप्रयाणाय मतिं चकार । पुष्करपत्रनेत्रः सुगतः तु अनुग्रहार्थं तस्मै पात्रं ददौ ॥११॥

टी० : ततः तत्पश्चात् सः नन्दः मुनये बुद्धाय प्रणामं कृत्वा नमस्कृत्य गृहप्रयाणाय गृहं प्रति गमनाय मतिम् बुद्धिम् चकार अकरोत् । गृहगमनं मनस्यकरोदित्यर्थः । पुष्करपत्रनेत्रः पुष्करं पद्मम् तस्य पत्रं दलम् इव नेत्रे नयने यस्य कमलदलनयनः सुगतः बुद्धः तु भेदे अनुग्रहार्थम् अनुग्रहाय नन्दस्येति शेषः, तस्मै नन्दाय पात्रम् आत्मनः भिक्षापात्रं ददौ अयच्छत् ॥११॥

टि० : गृहप्रयाणाय गृहस्य=गृहं प्रति यानाय यानारम्भः प्रयाणम् । प्रादिः तत्पुरुषः । ददौ√दा, लिट्०, प्र०पु०, ए० व० ।

भा० : उसके पश्चात् उसने मुनि को प्रणाम करके घर जाने का विचार किया । कमलदल जैसी आंखों वाले बुद्ध ने तो (उसको) अनुग्रह के लिये उसे (अपना भिक्षा-)पात्र दे दिया ॥११॥

Eng. Then he made obeisance to the Sage and decided to go home, but the Blessed One, whose eye was like a lotus petal, honoured him by handing to him His begging bowl.

ततः स लोके ददतः फलार्थं
पात्रस्य तस्याप्रतिमस्य पात्रम्
जग्राह चापग्रहणक्षमाभ्यां
पद्मोपमाभ्यां प्रयतः कराभ्याम् ॥१२॥

अन्वय :—ततः प्रयतः सः चापग्रहणक्षमाभ्यां पद्मोपमाभ्यां कराभ्यां लोके फलार्थं ददतः अप्रतिमस्य तस्य पात्रस्य पात्रं जग्राह ॥१२॥

टीका :—ततः तदनन्तरम्, प्रयतः नम्रः—तुलनीयम् 'वाल्मीकिरथ तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय वाग्यतः । प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा तस्थौ परमविस्मितः' (रामायण

---

12. *Pātra*, 'vessel', means 'a suitable recipient of gifts.' —Johnston

१।२।२४)' इति, सः नन्दः चापग्रहणक्षमाभ्यां चापः धनुः तस्य ग्रहणे धारणे क्षमाभ्यां समर्थाभ्यां पद्मोपमाभ्यां पद्म उपमा ययोः ताभ्यां कमलसदृशाभ्यां कराभ्य हस्ताभ्यां लोके जगति फलार्थं फलाय कर्मणाम् इतिशेषः, न तु भिक्षार्थं इत्यर्थः ददतः प्रयच्छतः अप्रतिमस्य अनुपमस्य अद्वितीयस्य तस्य पात्रस्य नानागुणाधिकरणस्य जनस्य बुद्धस्य—तुलनीयम्—'अपात्रः पात्रतां याति यत्र पात्रो न विद्यते (म० भ० १३।६६।२२), पात्रम् भिक्षापात्रम् जग्राह गृहीतवान् । अत्र हि पात्रस्य तस्याप्रतिमस्य पात्रम् इत्यस्मिन् पादे पात्रस्य क्रमेण आवृत्तिः यमकालङ्कारः, लक्षणं च तस्य—सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः । क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ।। (सा०द० १०।८)।।१२।।

टि० प्रयतः प्र√यम् 'उपरमे'+त (क्त) नम्रः । पात्रम् पिबन्त्यनेनेति √पा 'पाने'+त्र (ष्ट्रन्) 'सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्' । अर्हो जनोऽपि पात्रम् नित्यक्लीबम् ।

भा० : तत्पश्चात् नम्र हुए उस (नन्द) ने धनुष को धारण करने में समर्थ (और) कमलसदृश हाथों से लोक में फल के लिये देते हुए उस अनुपम पात्र (=अधिकारी) के पात्र को ग्रहण किया ।।१२।।

Eng. Then piously with lotuslike hands which were better suited to holding a bow he took the vessel of the incomparable Vessel, who gave it (not for alms but) for the fruit to be obtained in the world.

पराङ्मुखस्त्वन्यमनस्कमाराद्
विज्ञाय नन्दः सुगतं गतास्थम् ।
हस्तस्थपात्रोऽपि गृहं यियासुः
ससार मार्गान् मुनिमीक्षमाणः ।।१३।।

अन्वयः—पराङ्मुखः नन्दः तु आरात् सुगतम् अन्यमनस्कं गतास्थं (च) विज्ञाय हस्तस्थपात्रः अपि गृहं यियासुः मुनिम् ईक्षमाणः मार्गान् ससार ।।१३।।

टी०—पराङ्मुखः विमुखः पराचीनः नन्दः तु आरात् समीपे अन्तिकस्थं सुगतम् बुद्धम् अन्यमनस्कम् अन्यस्मिन् वस्तुनि मनो यस्य तम् अन्यत्रमनसम् गतास्थम् गता आस्था आदरो यस्य तम् वीतादरम् विज्ञाय ज्ञात्वा हस्तस्थपात्रः हस्ते तिष्ठति इति हस्तस्थम् हस्तस्थं पात्रं यस्येति स पात्रहस्तः, अपि गृहं स्वगेहं यियासुः यातुं गन्तुम् इच्छुः मुनिम् बुद्धम् ईक्षमाणः पश्यन् मार्गान् पथः ससार

---

13. *Parāṅmukhaḥ* might also mean 'averse (from following the Buddha)'.—Johnston

प्रतस्थे प्रस्थितः । मार्गान् इत्यत्र बहुवचने हेतुर्मृग्यः । सरतेः प्रयोगोऽपि न व्यवहारम् मनुपतति ॥१३॥

टि०—विज्ञाय वि√ज्ञा+य(ल्यप्) । यियासुः √या 'प्रापणे'+सन्+उ यातुम् इच्छुः । ईक्षमाणः । √ईक्ष् 'दर्शने'+मान (मुट्+शानच्), प्रथमा, ए० व० । ससार √सृ, लिट्, प्र० पु०, ए० व० ।

भा०—विमुख नन्द तो पास में बुद्ध को अन्य वस्तु में लगे हुए चित्त वाला (और) उपेक्षायुक्त जानकर पात्र को हाथ में लिये हुए भी घर जाना चाहता हुआ मुनि को निहारता हुआ मार्ग पर चल पड़ा ॥१३॥

Eng. But Nanda turned away, suddenly conscious that the Blessed One was attentive to something else and not interested in him, and stepped from the road to go home, though he had the bowl in his hand, keeping his eye on the Sage.

भार्यानुरागेण यदा गृहं स
पात्रं गृहीत्वापि यियासुरेव ।
विमोहयामास मुनिस्ततस्तं
रथ्यामुखस्यावरणेन तस्य ॥१४॥

अन्वयः—पात्रं गृहीत्वा अपि यदा सः भार्यानुरागेण गृहं यियासुः एव (अभवत्), ततः मुनिः तस्य रथ्यामुखस्य आवरणेन तं विमोहयामास ॥१४॥

टी०—पात्रम् भिक्षापात्रम् गृहीत्वा आदाय अपि यदा यस्मिन् काले सः नन्दः भार्यानुरागेण भार्यायाम् पत्न्याम् अनुरागेण आसक्त्या पत्नीप्रेम्णा गृहम् स्वप्रासादम् यियासुः जिगमिषुः गमनेच्छुः एव (अभवत्), ततः तदा मुनिः बुद्धः तस्य तस्मै नन्दाय रथ्यामुखस्य रथ्यायाः मार्गस्य मुखस्य द्वारस्य आवरणेन आच्छादनेन अवरोधेन तम् नन्दम् विमोहयामास मोहं वैचित्यं प्रापयामास किंकर्तव्यमूढं चकार ॥१४॥

टि०—रथ्या रथाय हिता, रथ+य (यत्)+आ (टाप्), पन्थाः । आवरणम् आ√वृ 'आवरणे'+अन (ल्युट्), आच्छादनम् । विमोहयामास वि√मुह् 'वैचित्ये'+णिच्+लिट्, प्र० पु०, ए० व०, किंकर्तव्यविमूढं चकार ।

भा०—भिक्षापात्र को लेकर भी जब वह पत्नी में अनुराग के कारण घर जाना ही चाहने लगा, तो मुनि ने उसके मार्ग को रोककर उसे किंकर्तव्यविमूढ कर दिया ॥१४॥

Eng. Then when Nanda, though still holding the bowl, wanted to go home out of love for his wife, the sage confounded him by blocking up the enir y of the street.

निर्मोक्षबीजं हि ददर्श तस्य
ज्ञानं मृदु क्लेशरजश्च तीव्रम् ।
क्लेशानुकूलं विषयात्मकं च
नन्दं यतस्तं मुनिराचकर्ष ।।१५।।

अन्वय—यतः हि मुनिः निर्मोक्षबीजं तस्य ज्ञानं मृदु, क्लेशरजः च तीव्रं ददर्श, नन्दं (च) क्लेशानुकूलं विषयात्मकं च (ददर्श), (अतः) (सः) तम् आचकर्ष ।।१५।।

टी०—यतः हि यस्मात् निपातद्वयं हेतौ मुनिः बुद्धः निर्मोक्षबीजम् निर्मोक्षस्य बीजम् मोक्षमूलम् तस्य नन्दस्य ज्ञानम् अवबोधम् 'मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्पशास्त्रयोः' इत्यमरः, मृदु कोमलं दुर्बलम्, क्लेशरजः क्लेशदं रजोगुणम्, प्रवर्तनालक्षणं प्रकृतेर्गुणम् दुःखहेतुः तीव्रम् प्रवृद्धं ददर्श अपश्यत्, नन्दं च क्लेशानुकूलम् क्लेशान् दुःखानि अनुगतम् विषयात्मकम् विषयाः इन्द्रियार्थाः आत्मा स्वरूपं यस्य तम् विषयाभिभूतं ददर्श, अतः अनेन कारणेन सः तम् नन्दम् आचकर्ष आकृष्टवान् अनुकूलयितुं प्रायतत ।।१५।।

टि०—ददर्श √दृश् 'प्रेक्षणे' लिट्, प्र० पु०, ए० व० । आचकर्ष आ√कृष् 'विलेखने', लिट्, प्र० पु०, ए० व० ।

भा०—क्योंकि मुनि ने मोक्ष के मूल, उसके ज्ञान को कमजोर और दुःखद रजोगुण को बढ़ा हुआ पाया, और नन्द को दुःखों का अनुगामी तथा विषयाभिभूत पाया, अतः (उसने) उसको (अपनी ओर) आकृष्ट किया ।।१५।।

Eng. For the Sage perceived that knowledge, the origin of salvation, was weak in Nanda, that the passion of the sins was fierce in him and that he was inclined to the sins and sensuous indulgences; therefore, he compelled him to follow.

संक्लेशपक्षो द्विविधश्च दृष्टस्
तथा द्विकल्पो व्यवदानपक्षः ।
आत्माश्रयो हेतुबलाधिकस्य
बाह्याश्रयः प्रत्ययगौरवस्य ।।१६।।

---

15. LVP suggests in *c kleśānukūlān viṣayān sitaṁ ca.*—Johnston

अन्वयः—संक्लेशपक्षः द्विविधः दृष्टः, तथा व्यवदानपक्षः च द्विकल्पः (दृष्टः)। हेतुबलाधिकस्य आत्माश्रयः (भवति) प्रत्ययगौरवस्य (च) बाह्याश्रयः ॥१६॥

टी० —संक्लेशपक्षः क्लेशस्य पापस्य वा पक्षः द्विविधः द्विप्रकारः दृष्टः तत्त्वदर्शिभिः इति शेषः तथा व्यवदानपक्षः व्यवदानस्य पुण्यस्य पक्षः च द्विकल्पः द्विविधः दृष्टः इति शेषः। संक्लेशः च व्यवदानं चेति शब्दद्वयम् प्रायेण सर्वेषु बौद्धसम्प्रदायग्रन्थेषु द्वन्द्वरूपेण वर्णितम्। हेतुबलाधिकस्य हेतुः वितर्कः कुशलमूलम् इति धम्मसङ्गणिपालिग्रन्थे, तद्रूपं बलम् अधिकम् यस्मिन् तस्य जनस्य इति शेषः। आत्मा स्वम् आश्रयः संश्रयणम् अवलम्बनम् भवति, तर्कबलप्रधानो जन आत्मावलम्बी भवतीत्यर्थः। प्रत्ययगौरवस्य प्रत्ययः पर प्रत्ययः परस्मिन् विश्वासः गौरवम् आदरः यस्य तस्य परजनविश्वासावलम्बिनः जनस्य बाह्याश्रयः बाह्यः आश्रयः आत्मनो भिन्नम् अवलम्बनम्, परप्रत्ययनेयबुद्धिः जनः आत्मानम् अनवलम्ब्य परान् एवाश्रयतीत्यर्थः। परप्रत्ययनेयबुद्धिषु प्रत्ययस्यानिवार्यत्वाद् द्वादशे सर्गे वर्णितस्य प्रत्ययमाहात्म्यस्य आंशिकव्याख्यायां महदुपकरोति श्लोकोऽयम् इति जॉन्स्टनमहोदयः ॥१६॥

टि० — द्विविधः द्वे विधे यस्य सः आतश्चोपसर्गे (३।३।१०६) इत्यङ्। कल्पः कल्प्यते विधीयते असौ, √कृप्+कर्मणि घञ्, विधिः। व्यवधानम् वि+अव √दै 'शोधने'+अन (ल्युट्), शोधनम्, पावनम्।

भा० —दुःख (अथवा पाप) का पक्ष दो प्रकार का देखा गया है, उसी प्रकार पुण्य का पक्ष भी दो प्रकार का (बताया गया) है। जिस मनुष्य में तर्कशक्ति अधिक होती है वह स्वावलम्बी होता है, और जो मनुष्य परविश्वास का आदर करता है वह परावलम्बी होता है ॥१६॥

Eng. The sins are classified in two categories, and so too the means of purification, namely, that in which a man, in whom the internal impulse is strong, is self-dependent, and that in which a man, to whom external conditions are of most weight, is dependent on outside agency.

---

16. *Hetu* here is equivalent to *kuśalamūla*; cf. *Dhammasaṅgaṇi* 103. *Saṁkleśa* and *vyavadāna* are regularly joined together in Buddhist works of all schools, e.g. *Majjhima* 115, *VM*, 51 ff., *AKV*, i, p. 12, 1. 23, and p. 51, 1. 7, *Mahāyānasūtrālaṁkāra*, commentary on vi, 1 and *Mhv*. III, 321, 6. This passage is important in partially explaining the emphasis laid on faith in canto xii, for faith is the essential element in those who are moved by impulsion from others (*AK*, IV, 273).—Johnston

अयत्नतो हेतुबलाधिकस्तु
निर्मुच्यते घट्टितमात्र एव ।
यत्नेन तु प्रत्ययनेयबुद्धिर्
विमोक्षमाप्नोति पराश्रयेण ॥१७॥

अन्वयः—हेतुबलाधिकः तु घट्टितमात्र एव अयत्नतः निर्मुच्यते । प्रत्ययनेयबुद्धिः तु पराश्रयेण यत्नेन (च) विमोक्षम् आप्नोति ॥१७॥

टी०—हेतुबलाधिकः तर्कशक्तिसम्पन्नः तु घट्टितमात्रः स्पृष्टमात्रः चलितमात्रः प्रेरितमात्रः हेतुना इति शेषः एव अयत्नतः यत्नम् अकृत्वा एव अनायासेन निर्मुच्यते निःशेषेण मुच्यते क्लेशैः इति शेषः, मोक्षम् आप्नोति इत्यर्थः । प्रत्ययनेयबुद्धिः प्रत्ययेन परविश्वासेन नेया कर्मणि प्रवर्तनीया बुद्धिः यस्य सः परविश्वासप्रेरितमतिः तु पराश्रयेण परेषाम् आश्रयेण अवलम्बेन यत्नेन अन्यैः दर्शिते मार्गे कृतेन स्वप्रयासेन च विमोक्षम् दुःखेभ्यः पापेभ्यः च मुक्तिम् आप्नोति अधिगच्छति प्राप्नोति ॥१७॥

टि०—निर्मुच्यते निः√मुच् 'मोक्षणे' कर्मकर्तरि, लट्, प्र० पु०, ए० व० । विमोक्षः विशेषेण मोक्ष्यते दुःखम् अनेन, √मोक्ष् 'असने'+अ (घञ्), मुक्तिः ।

भा०—तर्कशक्ति के आधिक्य वाला मनुष्य तो (तर्क से) प्रेरणामात्र पाकर ही विना यत्न किये मोक्ष को पा लेता है । दूसरों के विश्वास से प्रेरित हुई बुद्धि वाला दूसरों के सहारे से और (अपने) यत्न से मोक्ष को प्राप्त करता है ॥१७॥

Eng. For he in whom the impulse is strong obtains salvation without difficulty immediately on receipt of a stimulus, but he whose understanding is susceptible only to external conditions obtains salvation with difficulty and only by dependence on another.

नन्दः स च प्रत्ययनेयचेता
यं शिश्रिये तन्मयतामवाप ।
यस्मादिमं तत्र चकार यत्नं
तं स्नेहपङ्कान् मुनिरुज्जिहीर्षन् ॥१८॥

अन्वयः—प्रत्ययनेयचेताः सः नन्दः च यम् (अपि) शिश्रिये तन्मयताम् अवाप । यस्माद् मुनिः तं स्नेहपङ्काद् उज्जिहीर्षन् तत्र इमं यत्नं चकार ॥१८॥

टी०—प्रत्ययनेयचेताः परप्रत्ययनेयबुद्धिः सः असौ नन्दः च यम् अपि जनम् इति शेषः शिश्रिये आश्रितवान् अवलम्बितवान्, तन्मयताम् तद्रूपताम् अवाप प्राप्नोत् तत्समबुद्धिर् अभवद् इत्यर्थः । यस्माद् येन कारणेन अनेनैव कारणेनेत्यर्थः मुनिः

18. For *tanmayatām* cf. *Majjhima* I, 319, *no ca teno tammayo*, in a passage dealing with *saṃkiliṭṭha* and *vodāta* states.—Johnston

बुद्धः तम् नन्दम् स्नेहपङ्कात् स्नेह एव पङ्कः तस्मात् स्नेहकर्दमात् प्रेमपाशात् सुन्दर्याः इति शेषः, स्नेहपक्षाद् इति पाठान्तरम् उज्जिहीर्षन् उद्धर्तुम् इच्छन् तत्र मार्गे इमम् एतम् यत्नम् प्रयत्नम् चकार कृतवान् ॥१८॥

टि०—शिश्रिये √श्रि 'सेवायाम्' लिट्, प्र० पु०, ए० व०। अवाप अव+√आप् 'व्याप्तौ', लिट्, प्र० पु०, ए० व०। उज्जिहीर्षन् उद् √हृ, सन्+शतृ, प्रथमा, ए० व०। चकार √कृ, लिट्, प्र० पु०, ए० व०। तन्मयता—तदेव तन्मयम्, स्वार्थे मयट्।

भा०—और दूसरों की बुद्धि से प्रेरित बुद्धि वाला वह नन्द जिस किसी का भी आश्रय लेता था उसी के विचारों वाला हो जाता था। इसीलिये मुनि ने उसे स्नेहरूपी पङ्क से उबारने की इच्छा करते हुए वहाँ यह यत्न किया ॥१८॥

Eng. And Nanda, whose mind was susceptible only to external conditions, identified himself with whomsoever he went to for support; therefore the Sage made this effort in order to draw him out of the slough of love.

नन्दस्तु दुःखेन विचेष्टमानः
शनैरगत्या गुरुमन्वगच्छत्।
भार्यामुखं वीक्षणलोलनेत्रं
विचिन्तयन्नार्द्रविशेषकं तत् ॥१९॥

अन्वयः—वीक्षणलोलनेत्रम् आर्द्रविशेषकं तत् भार्यामुखं विचिन्तयन् (अत एव) दुःखेन विचेष्टमानः नन्दः तु अगत्या शनैः गुरुम् अन्वगच्छत् ॥१९॥

टी०—वीक्षणलोलनेत्रम् (पत्युः) वीक्षणाय वीक्षितुं द्रष्टुं लोले चञ्चले उत्सुके नेत्रे नयने यस्य तत् पतिदर्शनोत्सुकनयनम्, आर्द्रविशेषकम् आर्द्रम् अशुष्कं विशेषकं चन्दनादिना निर्मितं तिलकं यस्मिन् तत् आर्द्रतिलकम् तत् भार्यामुखम् भार्यायाः सुन्दर्याः मुखम् वदनम् विचिन्तयन् विशेषेण चिन्तयन् अनुस्मरन् (अत एव) दुःखेन कष्टेन विचेष्टमानः विशेषेण चेष्टमानः विविधा नाना अङ्गचेष्टाः कुर्वाणः नन्दः तु अगत्या वैवश्येन शनैः मन्दं मन्दं गुरुम् ज्येष्ठं भ्रातरं बुद्धम् अन्वगच्छत् अनुगतः ॥१९॥

टि०—आर्द्रविशेषकम् (मुखम्) यदा नन्दः बुद्धं प्रासादाभ्यन्तरम् आगतं ज्ञात्वा तम् अन्वगच्छत् तदा सुन्दर्याः मुखे कृतं विशेषकम् आसीद्, अत असौ अधुना तस्या आर्द्रविशेषकम् एव अनुस्मरति। विचिन्तयन् वि√चिन्त्+शतृ, प्रथमा, ए० व०। विचेष्टमानः वि√चेष्ट्+शानच्, प्रथमा, ए० व०।

भा०—(पति को) देखने के लिये उत्सुक नेत्रों वाले, गीले तिलक वाले,

पत्नी के उस मुख का विचार करता हुआ (इसीलिये) दुःख से तड़पता हुआ नन्द बेबसी के कारण धीरे धीरे ज्येष्ठ भ्राता का अनुगमन करने लगा ॥१९॥

Eng. But Nanda, writhing with grief, followed the Guru slowly and helplessly, thinking of his wife's face with eyes restlessly watching for him and with the paint still wet.

ततो मुनिस्तं प्रियमाल्यहारं
वसन्तमासेन कृताभिहारम् ।
निनाय भग्नप्रमदाविहारं
विद्याविहाराभिमतं विहारम् ॥२०॥

अन्वयः—ततः मुनिः प्रियमाल्यहारं वसन्तमासेन कृताभिहारं तं (नन्दं) भग्नप्रमदाविहारं विद्याविहाराभिमतं विहारं निनाय ॥२०॥

टी०—ततः तदनन्तरम् मुनिः बुद्धः प्रियमाल्यहारम् प्रियाणि माल्यानि कुसुममाला मुक्ताहाराश्च यस्य तम् मालाहारादीनि अलङ्करणानि इच्छन्तम् । मालाशब्दो ग्रथिते स्रगादौ रूढः । हारश्च मुक्ताप्रालम्बे । वसन्तमासेन वसन्तर्तुना कृताभिहारम् कृतः अभिहारः अपहरणं यस्य तम् सञ्जातकामम् इत्यर्थः, तं नन्दम् भग्नप्रमदाविहारम् भग्नः निषिद्धः प्रमदासु स्त्रीषु विहारः क्रीडा यस्मिन् तम् प्रतिषिद्धस्त्रीरमणम् विद्याविहाराभिमतम् विद्यायाः ज्ञानस्य विहाराय क्रीडायै अभिमतम् समादृतं प्रसिद्धं वा विहारम् सुगतालयं संघारामम् निनाय अनयत् ॥२०॥

टि०—अभिहारः अभि√ हृ+अभि (घञ्), सन्नहनम्, साहसम्, अपहरणम्—अभिहारः सन्नाहे स्यादभियोगे परस्वहरणे च इति हलायुधः । निनाय √नी 'प्रापणे' लिट्, प्र० पु०, ए० व० ।

भा०—उसके पश्चात् मुनि पुष्पमालाओं और मुक्ताहारों से प्यार करने वाले, वसन्त ऋतु के द्वारा अपहृत, उस नन्द को स्त्रीजनों में क्रीडा के लिये प्रतिषिद्ध और ज्ञान की क्रीडा के लिये अभिमत विहार में ले गया ॥२०॥

Eng. Then the Seer led him, who had suffered the assaults of the season of spring and to whom garlands and strings of pearls were dear, to the monastery, famed as the pleasureground of knowledge, in which pleasure in women was destroyed.

दीनं महाकारुणिकस्ततस्तं
दृष्ट्वा मुहूर्तं करुणायमानः ।
करेण चक्राङ्कतलेन मूर्ध्नि
पस्पर्श चैवेदमुवाच चैनम् ॥२१॥

अन्वयः—ततः तं दीनं (नन्दं) दृष्ट्वा मुहूर्तं करुणायमानः महाकारुणिकः (बुद्धः) चक्राङ्कतलेन करेण मूर्ध्नि पस्पर्श चैव, एनम् इदम् उवाच च ॥२१॥

टी०—ततः तत्पश्चात् तम् नन्दम् दीनम् दैन्येन अभिभूतं दृष्ट्वा ज्ञात्वा मुहूर्तं क्षणं करुणायमानः अकरुणः करुणावान्भवतीति करुणायते । भृशादित्वाद-भूततद्भावे क्यङ् । सञ्जातकरुणा इत्यर्थः । महाकारुणिकः करुणा प्रयोजनं अस्य प्रयोजिका अस्तीति कारुणिकः महांश्च असौ कारुणिकः च महाकारुणिकः परम-दयालुः बुद्धः चक्राङ्कतलेन चक्रं अङ्कः लक्ष्म चिह्नं यस्य तत्तलं चक्राङ्कम् रथाङ्ग-चिह्नयुक्तेन इत्यर्थः चक्राङ्कं तलं यस्य, तेन करेण हस्तेन मूर्ध्नि शिरसि पस्पर्श चैव अस्पृशत् चैव, एनम् नन्दम् इदम् एतत् उवाच उक्तवान् च ॥२१॥

टि०—करुणायमानः करुणा+य (क्यङ्)+शानच्, प्रथमा, ए० व० । महाकारुणिकः महान् कारुणिकः—आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः (पा० ६।३।४६) इत्यनेन महत आकारोऽन्तादेशः । चक्राङ्कः चक्रं रथाङ्गं चिह्नम्, करतले चक्रचिह्नं शुभं सामुद्रिकं लक्षणम् । पस्पर्श √स्पृश्, लिट्, प्र० पु०, ए० व० । उवाच √वच् (ब्रू), लिट्, प्र० पु०, ए० व० ।

भा०—उसके पश्चात् उस (नन्द) को दीन जानकर क्षण भर के लिये करुणा से भरे, परमदयालु (बुद्ध) ने चक्र के चिह्न वाले हाथ से उसके सिर को स्पर्श किया और यह वचन कहा ॥२१॥

Eng. Then the Compassionate One, considering his wretchedness for a moment and pitying him, caressed his head with his hand, the palm of which bore the wheelmark, and spoke to him thus :—

यावन् न हिंस्रः समुपैति कालः
शमाय तावत् कुरु सौम्य बुद्धिम् ।
सर्वास्ववस्थास्विह वर्तमानः
सर्वाभिसारेण निहन्ति मृत्युः ॥२२॥

अन्वयः—सौम्य ! यावत् हिंस्रः कालः न समुपैति तावत् शमाय बुद्धिं कुरु । इह सर्वासु अवस्थासु वर्तमानः मृत्युः सर्वाभिसारेण निहन्ति ॥२२॥

टी० :—सौम्य मनोज्ञ भद्र यावत् यावन्तं कालम् हिंस्रः हिंसकः मारकः कालः मृत्युः न समुपैति नोपसर्पति तावत् तावन्तं कालम् शमाय शान्तये बुद्धिम् मतिम् कुरु कुरुष्व । इह अस्मिन् लोके सर्वासु सकलासु अवस्थासु स्थितिषु वर्तमानः

विद्यमानः मृत्युः यमः कालः सर्वाभिसारेण सर्वविधेन अभिसारेण अभियोगेन आक्रमणेन निहन्ति मारयति ॥२२॥

टि०—सौम्य (सं०), सोम इव सोम्यः । शाखादिभ्यो यः (पा० ५।३।१०३) इति यः । ततः प्रज्ञाद्यण्, सोमः चन्द्रः स इव शीतः शान्तः सुखप्रदश्च, सम्बुद्धौ विभक्तेर्लोपः । हिंस्रः हिनस्तीति हिंस्रः हिंसनशीलः—नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंस-दीपो रः (पा० ३।२।१६७) इत्यनेन ताच्छीलिको रप्रत्ययः प्रथमा, ए० व०, हिंसकः, घातुकः । समुपैति सम्+उप+आ √इ+ति, प्राप्नोति, आगच्छति । अभिसारः अभि √सृ+अ (घञ्), प्रथमा, ए० व० । निहन्ति नि√हन् लट्, प्र० पु०, ए० व० ।

भा०—हे भद्र ! जब तक हिंसक मृत्यु नहीं आती है तब तक शान्ति के लिए निश्चय कर लो । इस लोक में सब अवस्थाओं में विद्यमान काल हर प्रकार के आक्रमण से मार डालता है ।२२॥

Eng. 'My friend, make up your mind to work for tranquillity against the day that fearsome Death arrives; for Death is present on all occasions and slays with every sort of attack.

साधारणात् स्वप्ननिभादसाराल्
लोलं मनः कामसुखान् नियच्छ ।
हव्यैरिवाग्नेः पवनेरितस्य
लोकस्य कामैर्नहि तृप्तिरस्ति ॥२३॥

अन्वयः—साधारणात् स्वप्ननिभात् असारात् कामसुखात् लोलं मनः नियच्छ । हि पवनेरितस्य अग्नेः हव्यैः इव लोकस्य कामैः तृप्तिः न अस्ति ॥२३॥

टी०—साधारणात् सामान्यात् अविशेषात् स्वप्ननिभात् स्वप्नसदृशात् असारात् नास्ति सारः यस्मिन् तस्मात् फल्गुनः तुच्छात् कामसुखात् कामस्य मन्मथस्य सुखात् अनुकूलवेदनायाः लोलम् चञ्चलम् चपलम् मनः चित्तम् चेतः नियच्छ वारय । हि यस्मात् पवनेरितस्य पवनेन ईरितस्य प्रेरितस्य ध्मातस्य प्रज्वालितस्य अग्नेः वह्नेः पावकस्य हव्यैः हवनीयैः द्रव्यैः घृतादिभिः इव यथा लोकस्य लोकानाम् जनानाम् कामैः काम्यभोगैः तृप्तिः तर्पणं न अस्ति उक्तं च । मनुना—न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति । हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ (मनु० २।९४) । उपमालङ्कारः ॥२३॥

टि० :—नियच्छ नि+यम् 'उपरमे' लोट्, म० पु०, ए० व० । स्वप्न-निभात् । निभं सन्निभं सदृशम्, तस्मात् । अस्वपदविग्रहः तृतीया तत्पुरुषः ।

आ० :—काम के साधारण, स्वप्नसदृश, निस्सार सुख से चञ्चल मन को रोक ले। क्योंकि जिस प्रकार पवन से प्रज्वालित अग्नि की हवनीय पदार्थों से तृप्ति नहीं होती उसी प्रकार मनुष्यों की भी कामों से तृप्ति नहीं हो सकती ॥२३॥

Eng. Restrain your restless mind from the unsubstantial pleasure of senses which is (illusory) as a dream; for the world no more reaches satiety with love than a fire, fanned by the wind, with oblations.

श्रद्धाधनं श्रेष्ठतमं धनेभ्यः
प्रज्ञारसस्तृप्तिकरो रसेभ्यः ।
प्रधानमध्यात्मसुखं सुखेभ्यो
विद्यारतिर्दुःखतमा रतिभ्यः ॥२४॥

अन्व० :—श्रद्धाधनं धनेभ्यः श्रेष्ठतमम्, प्रज्ञारसः रसेभ्यः तृप्तिकरः, अध्यात्मसुखं सुखेभ्यः प्रधानम्, विद्यारतिः (च) रतिभ्यः दुःखतमा ॥२४॥

टी०—श्रद्धाधनम् श्रद्धा आस्तिक्यबुद्धिः, गुरुशास्त्रवचनेषु प्रत्यक्षवद् विश्वासः। 'प्रत्ययो धर्मकार्येषु यथा श्रद्धेत्युदाहृता । नास्ति ह्यश्रद्दधानस्य धर्मकृत्ये प्रयोजनम्'—इति स्मृतिः, सा एव धनम् वित्तम् धनेभ्यः सर्वेभ्यः वित्तेभ्यः सर्वेषां वित्तानां सर्वेषु वित्तेषु वेत्यर्थः, श्रेष्ठतमम् उत्तमम्, प्रज्ञारसः प्रज्ञायाः बुद्धेः ज्ञानस्य वा रसः आस्वादः रसेभ्यः सर्वेषु रसेषु सर्वेषां रसानां वा तृप्तिकरः तृप्ति करोतीति तृप्तिकरः तृप्तिकृत्तमः इत्यर्थः, अध्यात्मसुखम् आत्मस्थं सुखम् आत्मानन्दः सुखेभ्यः सर्वेषां सुखानां सर्वेषु सुखेषु वा प्रधानम् प्रधानतमम् इत्यर्थः, विद्यारतिः विद्या ज्ञानम् तस्या रतिः रमणं च रतिभ्यः सर्वासां रतीनां सर्वासु रतिषु वा दुःखतमा कष्टतमा ॥२४॥

टि०—धनेभ्यः श्रेष्ठतमम् । अत्र हि—यतश्च निर्धारणम् (पा० २।३।४१)-इत्यनेन सूत्रेण निर्धारणे (पृथक्करणे) षष्ठीसप्तम्यौ स्तः, पञ्चम्याः प्रयोगः प्रामादिकः, एवमेव रसेभ्यः, सुखेभ्यः रतिभ्यः इत्यादीनां विषयेऽपि ज्ञेयम् । अपि च तृप्तिकरः प्रधानम् इत्येतयोः स्थाने तृप्तिकरतमः प्रधानतमम् च इत्येतद् बोद्धव्यम् ।

---

24. Or following LVP we can read in *d*, *a-vidyāratir duḥkhatamā ratibhyaḥ*, 'the sorrow of ignorance is the most grievous of all sorrows,' which is perhaps better sense, but for the text reading cf. *Bṛh. Ār. Up.* (A.S.S. edn.) iv. 4, 10 (=*Īśa Up*. 9.) and *MBh.* v, 1137.—Johnston

अध्यात्मसुखम् आत्मनि अधि अध्यात्मम् । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । अनश्च (५।४।१०८) इत्यनेन टच् समासान्तः । नस्तद्धिते (६।४।१४४) इत्यनेन टिलोपः । ततः सुखशब्देन सुप्सुपा समासः ।

भा० :—श्रद्धारूपी धन सब धनों में उत्तम है, ज्ञान का रस सब रसों में सर्वाधिक तृप्तिकर है, आत्मा का आनन्द सब आनन्दों में श्रेष्ठ है (और) विद्या में रति सब रतियों में कठोरतम है ॥२४॥

Eng. The riches of faith are the best of all riches, the taste of wisdom is the most satisfying of all tastes, internal joy is the chief of all joys and to take delight in intellectual knowledge is the most grievous of all pleasures.

हितस्य वक्ता प्रवरः सुहृद्भ्यो
धर्माय खेदो गुणवान् श्रमेभ्यः ।
ज्ञानाय कृत्यं परमं क्रियाभ्यः
किमिन्द्रियाणामुपगम्य दास्यम् ॥२५॥

अन्व०—हितस्य वक्ता सुहृद्भ्यः प्रवरः, धर्माय खेदः श्रमेभ्यः गुणवान्, ज्ञानाय कृत्यं क्रियाभ्यः परमम् । इन्द्रियाणां दास्यम् उपगम्य किं (प्रयोजनम्) ॥२५॥

टी०—हितस्य पथ्यस्य वक्ता अनुशासिता उपदेष्टा सुहृद्भ्यः मित्रेभ्यः सखिभ्यः । "वयस्यः स्निग्धः सवया अथ मित्रं सखा सुहृद्" इत्यमरः (२।८।१२)। प्रवरः उत्तमः श्रेष्ठः, धर्माय पुण्याय श्रेयसे सुकृताय—"स्याद् धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः" इत्यमरः (१।३।२४)। धर्मार्थं कृत इत्यर्थः— तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या (वा०)। खेदः श्रमः परिश्रमः श्रमेभ्यः परिश्रमेभ्यः गुणवान् गुणवत्तर इत्यर्थः । ज्ञानाय "मोक्षे धीर्ज्ञानम्" इत्यमरः (१।४।६) । तस्मै तदर्थं कृतं कृत्यम् कर्म कर्तव्यम् क्रियाभ्यः सर्वेभ्यः कर्मभ्यः परमम् श्रेष्ठम्, सर्वेषु कर्मसु सर्वेषां कर्मणां वा श्रेष्ठम् इत्यर्थः । इन्द्रियाणां करणानां दास्यम् दासभावम् दासताम् उपगम्य प्राप्य किम् प्रयोजनं सिध्यतीत्यर्थः ॥२५॥

टि०—हितस्य √धा (डुधाञ्) 'धारणपोषणयोः'+त (क्त), दधातेर्हिः (पा० ७।४।४२) इत्यनेन दधातेर्ह्यादेशः, षष्ठी, ए० व० । वक्ता ब्रू>वच्+तृ (तृच्), प्रथमा, ए० व० । दास्यम् दास+य (यत्), दासस्य भावः । अत्र हि निर्धारणार्थेऽपि षष्ठ्याः सप्तम्याः वा स्थाने सर्वत्र पञ्चम्याः प्रयोगोऽस्थाने । इन्द्र आत्मा, तस्य लिङ्गमनुमापकमिन्द्रियम् । करणेन कर्तुरनुमानात् ।

भा० :—पथ्य का उपदेष्टा मित्रों से बढ़कर है, धर्म के लिए किया हुआ परिश्रम सभी परिश्रमों से अधिक गुणवान् होता है, ज्ञान के लिए किया हुआ कर्म सब कर्मों से उत्तम है । इन्द्रियों का दास बनकर कौन सा प्रयोजन सिद्ध होता है ॥२५॥

Eng. He who speaks what is advantageous is the best of friends, exertion directed towards Righteousness is the most meritorious of all toils, labour for knowledge is the highest of actions; what is gained by accepting slavery to the senses ?

तन्निश्चितं भीक्लमशुग्वियुक्तं
परेष्वनायत्तमहार्यमन्यैः ।
नित्यं शिवं शान्तिसुखं वृणीष्व
किमिन्द्रियार्थार्थमनर्थमूढ्वा ॥२६॥

अन्व० : तत् निश्चितं, भीक्लमशुग्वियुक्तम्, परेषु अनायत्तम्, अन्यैः अहार्यम्, नित्यं शिवं शान्तिसुखं वृणीष्व । इन्द्रियार्थार्थम् अनर्थम् ऊढ्वा किम् (प्रयोजनम्) ॥२६॥

टी० : तत् तस्मात् **निश्चितम्** नियतम् निश्चितसत्ताकं **भीक्लमशुग्वियुक्तम्** भीः भीतिः भयम्—'भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' इत्यमरः (१.६।२१)। क्लमः क्लान्तिः शुक् मन्युः शोकः—'मन्युशोकौ तु शुक् स्त्रियाम्' इत्यमरः (१।६।२५)। भीश्च क्लमश्च शुक्च भीक्लमशुचः ताभिर् वियुक्तं हीनम् मुक्तम्, **परेषु** इतरेषु अन्येषु **अनायत्तम्** अनाधृतम् अनाश्रितम्, **अन्यैः** इतरैः **अहार्यम्** हर्तुम् अशक्यम्, **नित्यम्** शाश्वतं ध्रुवम् 'शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्यसदातनसनातनाः' इत्यमरः (३।१।७३)। **शिवम्** भद्रं कल्याणं शुभम् **शान्तिसुखम्** शान्तेः सुखम् प्रमोदम् **वृणीष्व** प्राप्नुहि । **इन्द्रियार्थार्थम्** इन्द्रियाणाम् अर्थाः विषयाः रूपरसगन्धादयः तेभ्यः इन्द्रियार्थार्थम् **अनर्थम्** दुःखम् आयासम् **ऊढ्वा** सोढ्वा **किम्** प्रयोजनं सिध्यतीति शेषः, न किमपीत्यर्थः ॥२६॥

टि० : **भीक्लमशुगादि-द्वन्द्वसमासे** अल्पाच्तरम् (पा०) इतीदं सूत्रम् अनादृत्य क्लमस्य शुचः प्राक् प्रयोगे कवेः स्वाच्छन्द्यम् । **परेषु** 'आधारोऽधिकरणम्' (पा० १।४।४५), 'अधिकरणे सप्तमी' । **अनायत्तम्** न+आ√यत्+त (क्त), द्वितीया, ए०व० । **अहार्यम्** न√हृ+य (ण्यत्) । **वृणीष्व**√वृ 'संभक्तौ' (उभय०), लोट्, म०पु०, ए०व० ।

भा० :—इसलिये निश्चित, भय ग्लानि और शोक से रहित, दूसरों पर आश्रित न होने वाले, अन्यजनों से हरण न किये जा सकने वाले, कल्याणकारी शान्ति के सुख का वरण कर । इन्द्रियों के विषयों के लिये दुःख उठाने से क्या लाभ ? ॥२६॥

Eng. Choose then the certain, everlasting, holy joy of tranquillity, which is free from fear, distress and sorrow, which is not dependent on others and which cannot be taken away by them; what is the good of suffering calamity for the sake of gaining objects of senses ?

जरासमा नास्त्यमृजा प्रजानां
व्याधेः समो नास्ति जगत्यनर्थः ।
मृत्योः समं नास्ति भयं पृथिव्या-
मेतत् त्रयं खल्ववशेन सेव्यम् ॥२७॥

अन्व० : प्रजानाम् जरासमा अमृजा नास्ति, जगति व्याधेः समः अनर्थः नास्ति, पृथिव्याम् मृत्योः समं भयं नास्ति, एतत् त्रयम् अवशेन सेव्यम् खलु ॥२७॥

टी० : प्रजानां जनानां जरासमा जरया जरसा वा समा, वार्द्धक्येन स्थविरभावेन समाना "प्रजा स्यात् सन्ततौ जने" इत्यमरः (३।३।३२) । अमृजा स्नात्वा शरीरं प्रोञ्छ्य च सम्पादितं निर्मलत्वं मृजा, 'स्यान्मार्ष्टिर्मार्जना मृजा' इत्यमरः (२।६।१२१) । तस्या अभावः अमृजा, शरीरमालिन्यम्, नास्ति, व्याधेः रोगस्य समः समानः सदृशः, तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् (पा० २।३।७२) इत्येतेन सूत्रेण तृतीया पक्षे षष्ठी । जगति लोके अनर्थः दुःखम् नास्ति न विद्यते, मृत्योः मरणस्य मरणेन वा समः तुल्यः पृथिव्यां धरणीतले भयम् भीः भीतिः नास्ति न विद्यते, एतत् इदम् त्रयम् त्रयो अवयवाः अस्येति त्रयम् अवशेन परवशगतेन पराधीनेन अवशं सेव्यम् सेवितव्यम् भोक्तव्यम् खलु निश्चितं नियतम् ॥२७॥

टि० : त्रयम् त्रि-तयप् । त्रि+अयच्, तयपोऽयजादेशः । त्रयो अवयवाः अस्येति । सेव्यम् √सेव+य (यत्), नपुं०, प्रथमा, ए०व० ।

भा० : मनुष्यों के लिये बुढ़ापे के समान (और कोई) मलिनता (=कुरूपता) नहीं है, लोक में रोग के समान (कोई) दुःख नहीं है, मृत्यु के समान भूतल पर (कोई) भय नहीं है. निश्चित रूप से ये तीनों (मनुष्य को) अवश्य सेवन करने पड़ते हैं ॥२७॥

Eng. Old age has no equal in taking men's beauty, no calamity in the world equals disease, no danger on earth equals death; yet you must undergo these three whether you would or no.

स्नेहेन कश्चिन्न समोऽस्ति पाशः
स्रोतो न तृष्णासममस्ति हारि ।
रागाग्निना नास्ति समस्तथाग्निस्
तच्चेत् त्रयं नास्ति सुखं च तेऽस्ति ॥२८॥

अन्व० : स्नेहेन समः कश्चित् पाशः न अस्ति, तृष्णासमं हारि स्रोतः न अस्ति, तथा रागाग्निना समः अग्निः नास्ति, तत् त्रयं चेत् नास्ति, सुखं च ते अस्ति ॥२८॥

टी० : स्नेहेन प्रेम्णा समः तुल्यः कश्चित् कोऽपि पाशः वागुरा मृगजालिका पक्ष्यादिबन्धनरज्ज्वादिः । 'पाशः स्याद् बन्धनग्रन्थिर्वागुरा मृगजालिका'—इति हलायुधः (५९७) न अस्ति, तृष्णासमम् तृष्णया इच्छया लिप्सया समम् तुल्यम् हारि अवश्यं हारकं स्रोतः जलौघः नदीप्रवाहः 'ओघः प्रवाहो वेणी च धारा स्रोतो रयः स्मृतः' इति हलायुधः (६६६) । तथा रागाग्निना रागः अनुरक्तिः एव अग्निः अनलः तेन समः तुल्यः अग्निः अन्यः हुताशनः नास्ति न विद्यते, तत् त्रयम् स्नेहपाशः, तृष्णास्रोतः रागाग्निश्च एतानि त्रीणि चेत् यदि तव न सन्ति, सुखं च ते अस्ति, तदैव ते सुखं भवेद् इत्यर्थः ॥२८॥

टि० : तृष्णासमम् तृष्णया समम्, तृ० तत्पु० । स्नेहेन समः रागाग्निना समः इत्यत्र तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम् (पा० २।३।७२) इत्यनेन तृतीया, पक्षे षष्ठ्यपि भवितुमर्हति । हारि अवश्यं हरतीति । आवश्यके णिनिः ।

भा० : स्नेह के समान कोई पाश नहीं है, तृष्णा के समान बहा ले जाने वाला कोई प्रवाह नहीं है, तथा रागरूपी अग्नि के समान कोई अग्नि नही है, ये तीनों यदि तुझ में न हों तो तू सुखी हो जाए ॥२८॥

Eng. There is no bond equal to affection, no destructive stream equal to desire, no fire equal to the fire of love; if these three did not exist, happiness would be yours.

अवश्यभावी प्रियविप्रयोगस्
तस्माच्च शोको नियतं निषेव्यः ।
शोकेन चोन्मादमुपेयिवांसो
राजर्षयोऽन्येऽप्यवशा विचेलुः ॥२९॥

अन्व० : प्रियविप्रयोगः अवश्यभावी, तस्मात् च शोकः नियतं निषेव्यः, शोकेन च उन्मादम् उपेयिवांसः राजर्षयः अन्ये अपि (च) अवशाः (भूत्वा) विचेलुः ॥२९॥

टी० : प्रियविप्रयोगः प्रियः हृद्यः तेन विप्रयोगः विप्रलम्भः विच्छेदः विश्लेषः 'विप्रलम्भो विप्रयोगः'—इत्यमरः (३।२।२८)' अवश्यभावी अवश्यम् अवशं भवितुं शीलम् अस्य, ताच्छील्ये णिनिः, अवश्यंभावी, तस्मात् च अतएव शोकः बन्ध्वादिवियोगजनिता पीडा चित्तविकलता नियतम् ध्रुवं निश्चयेन अपरिहार्यं इति निषेव्यः सेव्यः सेवितव्यः सोढव्यः । शोकेन शुचा चित्तविकलतया च उन्मादम् चित्तविभ्रमम् 'उन्मादश्चित्तविभ्रमः' इत्यमरः (१।६।२६), उपेयिवांसः उपगताः प्राप्ताः राजर्षयः राजानः ऋषयः इव, तपसा धूतकल्मषा नराधिपाः अन्ये इतरे साधारणा जनाः अपि (च) अवशाः परवशाः पराधीनाः (भूत्वा) विचेलुः विचलिताः पथः भ्रष्टाः उत्पथं गता इति यावत् ॥२९॥

टि० : निषेव्यः नि√सेव् 'सेवने' + य (यत्), प्रथमा, ए०व० । उपेयिवांसः उप√इ 'गतौ' + वस् (क्वसु), प्रथमा, ब०व० । अवशाः नास्ति वशः येषाम्, ब०व्री० । विचेलुः वि√चल् 'कम्पने', लिट्, प्र०पु०, ब०व० । उन्मादः मदेर्घञ् । उपसर्गं उपपदे तु अप् । मदः ।

भा० :—प्रिय से वियोग अवश्यंभावी है, इसलिये शोक को निश्चित रूप से सहना पड़ता है, और शोक से उन्माद को प्राप्त हुए राजर्षि तथा अन्य जन भी पथभ्रष्ट हो गए ।।२९।।

Eng. It is certain that separation from one's dear ones must take place; therefore grief is an inevitable experience, and the frenzy of grief made even other royal seers helplessly lose their self-control.

प्रज्ञामयं वर्म बधान तस्मान्
नो क्षान्तिनिघ्नस्य हि शोकबाणाः ।
महच्च दग्धुं भवकक्षजालं
संधुक्षयाल्पाग्निमिवात्मतेजः ।।३०।।

अन्व० : तस्मात् प्रज्ञामयं वर्म बधान, हि क्षान्तिनिघ्नस्य शोकबाणाः नो (सन्ति) । महत् भवकक्षजालं च दग्धुम् अल्पाग्निम् इव आत्मतेजः संधुक्षय ।।३०।।

टी० : तस्मात् कारणात् इति शेषः अतएव प्रज्ञामयम् प्रज्ञायाः बुद्धेः विकारः प्रज्ञामयम् बुद्धिनिर्मितम् बुद्धिरूपमिति तात्पर्यम् । वर्म कवचं तनुत्राणम् बधान संनह्य, हि यस्मात् क्षान्तिनिघ्नस्य क्षान्तिः क्षमा तितिक्षा तस्यां निघ्नः निहतः स्थापितः तस्य क्षमाम् आधारं कृत्वा स्थितस्य शोकबाणाः शोकः एव बाणः शोकबाणः बहुवचने शोकबाणाः शुगिषवः नो न (सन्ति) तं बाणभूताः शोकाः वेद्धुं न शक्नुवन्ति इत्यर्थः । महत् विपुलं विस्तीर्णम् भवकक्षजालम् भवः संसारः एव कक्षजालं तृणसमूहः तत् च दग्धुम् भस्मसात्कर्तुम् अल्पाग्निम् अल्पः स्तोकः अग्निः वह्निः तम् स्वल्पानलम् इव यथा आत्मतेजः आत्मनः स्वस्य तेजः दीप्तिम् संधुक्षय सम्यग् दीपय । उपमालङ्कारः ।।३०।।

टि० : बधान, बन्ध्, लोट्, म०पु०, ए०व० । निघ्न नि√हन् + घञर्थे कविधानम् । निहन्यते निगृह्यत इति । 'अधीनो निघ्न आयत्त' इति त्वमरः । इह कविना निघ्नशब्द उपघ्नेऽर्थे प्रयुक्तः । सोऽस्य प्रयोगो व्यवहारं नानुपतति । महत् भवकक्षजालम् महत् इतीदं पदम् जालम् इत्यस्य विशेषणम् । संधुक्षय सम्, धुक्ष् (आत्म०), भ्वादौ गणे पठितस्यास्य धातोर्लोटि मध्यमपुरुषैकवचने धुक्षस्व इति रूपं सिध्यति, अत्र व्यत्ययेन परस्मैपदे चुरादौ रूपम् ।

भा० :—इसलिये बुद्धि-रूप कवच को धारण कर, क्योंकि क्षमा को आधार बनाने वाले के लिये शोक रूपी बाण नहीं हैं । और संसार रूपी घास के महान्

समूह को जला डालने के लिये अपने तेज को इस प्रकार प्रदीप्त कर जैसे स्वल्प अग्नि को (प्रयत्नपूर्वक प्रज्वलित किया जाता है) ।।३०।।

Eng. Gird on therefore the armour of wisdom, for the arrows of grief are powerless against the man endowed with patience; and kindle your courage to put an end to existence, just as you would kindle a small fire to burn up a great heap of grass.

यथौषधैर्हस्तगतैः सविद्यो
न दश्यते कश्चन पन्नगेन ।
तथाऽनपेक्षो जितलोकमोहो
न दश्यते शोकभुजङ्गमेन ।।३१।।

अन्व० : यथा हस्तगतैः औषधैः (युक्तः) सविद्यः कश्चन (नरः) पन्नगेन न दश्यते, तथा अनपेक्षः जितलोकमोहः शोकभुजङ्गमेन न दश्यते ।।३१।।

टी० : यथा येन प्रकारेण हस्तगतैः हस्तं गतानि करेण धृतानि औषधानि, तैर् औषधैः भेषजैः अगदैः विषनिवारणसमर्थैः युक्तः इति शेषः सविद्यः विद्यया विषविद्यया मन्त्रादिभिः वा सह वर्तमानः विषवैद्य इति यावत् कश्चन कोऽपि नरः इति शेषः पन्नगेन सर्पेण विषधरेण न दश्यते दष्टो न भवति, दष्टोऽपि न म्रियते इत्यर्थः, तथा तेनैव प्रकारेण अनपेक्षः नास्ति अपेक्षा आशा आकाङ्क्षा इच्छा यस्य सः निःस्पृहः जितलोकमोहः जितः विजितः लोकस्य जगतः मोहः मौढ्यम् येन सः जगन्मोहविजेता शोकभुजङ्गमेन शोकः शुग् एव भुजङ्गमः सर्पः तेन शोकरूपविषधरेण, न दश्यते दष्टो न भवति ।।३१।।

टि० : दश्यते √दश्+य (यक्) कर्मणि, लट्, प्र०पु०, ए०व० । भुजङ्गमः =भुजङ्गः=भुजगः । भुजः कुटिलः सन् गच्छतीति ।

भा० :—जिस प्रकार हाथ में ली हुई औषधों से युक्त (विष-) विद्या को जानने वाला कोई भी मनुष्य सांप से डसा नहीं जाता, उसी प्रकार निःस्पृह सांसारिक मोह को जीतने वाला (मनुष्य) शोकरूपी सर्प से नहीं डसा जाता ।।३१।।

Eng. Just as no knowledgeable man, who takes protective herbs in his hand, is bitten by a snake, so he who has attained indifference and conquered the illusion of the world is not bitten by the snake of grief.

---

31. For the protective power of certain plants against snakes see *Kauṭ A.* i. 20, 9, and cf. *ṚV.* i. 191, 1-3 with the notes thereon in Geldner's translation (Gottingen, 1923). —Johnston

आस्थाय योगं परिगम्य तत्त्वं
न त्रासमागच्छति मृत्युकाले ।
आबद्धवर्मा सुधनुः कृतास्त्रो
जिगीषया शूर इवाहवस्थः ॥३२॥

अन्व० : योगम् आस्थाय तत्त्वं परिगम्य जिगीषया आबद्धवर्मा सुधनुः कृतास्त्रः आहवस्थः शूरः इव मृत्युकाले त्रासम् न आगच्छति ॥३२॥

टी० : योगम् युक्तिम् उपायम् ध्यानं वा,—'योगः सन्नहनोपाय-ध्यान-सङ्गति-युक्तिषु' इत्यमरः (३।३।२२), योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (योग० १।१), तम् आस्थाय आश्रित्य चित्तवृत्तिं निरुध्य इत्यर्थः, तत्त्वम् वस्तुस्थितिम् परिगम्य विज्ञाय जिगीषया जेतुम् इच्छा जिगीषा तया जयेच्छया आबद्ध-वर्मा आ समन्तात् बद्धं नद्धं वर्म कवचः येन सः परिहिततनुत्राणः, सुधनुः सु शोभनं धनुः कोदण्डः यस्य सः सुधन्वा, कृतास्त्रः कृतानि अभ्यस्तानि अस्त्राणि येन सः अस्त्रेषु शिक्षितः आहवस्थः आ समन्ताद् हूयन्ते यस्मिन् सः आहवः युद्धम् तस्मिन् तिष्ठतीति आहवस्थः रणाङ्गनस्थितः शूरः योद्धा इव यथा मृत्युकाले मृत्योः कालः अन्तकालः तस्मिन् त्रासम् भयम् न आगच्छति नाधिगच्छति नाप्नोति ॥३२॥

टि० : आस्थाय आ √स्था + य (ल्यप्)। परिगम्य परि √गम् + य (ल्यप्) । जिगीषया √जि + स (सन्) + आ (टाप्), तृतीया, ए०व० । आहवस्थः आहवे तिष्ठति, उपपदतत्पुरुषसमासः ।

भा० : योग का आश्रय लेकर, तत्त्व को जानकर (मनुष्य), विजय की इच्छा से कवच को धारण करने वाले, सुन्दर धनुष वाले, अस्त्रों के अभ्यासी रणाङ्गन में स्थित योद्धा की तरह, अन्तकाल में भय को प्राप्त नहीं होता है ॥३२॥

Eng. By practising Yoga and arriving at the ultimate truth, a man remains unamazed in the hour of death, like a warrior who strives for victory in battle and who, girt with harness and having a good bow, is skilled in the use of arms.

इत्येवमुक्तः स तथागतेन
सर्वेषु भूतेष्वनुकम्पकेन ।
धृष्टं गिरान्तर्हृदयेन सीदंस्
तथेति नन्दः सुगतं बभाषे ॥३३॥

अन्व० : सर्वेषु भूतेषु अनुकम्पकेन तथागतेन इत्येवम् उक्तः अन्तर्हृदयेन सीदन् सः नन्दः सुगतं तथा इति गिरा धृष्टं बभाषे ॥३३॥

टी० : सर्वेषु सकलेषु भूतेषु प्राणिषु अनुकम्पकेन सानुक्रोशेन सदयेन तथागतेन बुद्धेन इत्येवम् इत्थम् उक्तः उपदिष्टः अन्तर्हृदयेन हृदयेऽन्तरन्तर्हृदयम् । हृदीत्यर्थः । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । तृतीयासप्तम्योर्बहुलमित्यदन्तस्य विभक्तेर्लुङ् न, अमादेशस्तु भवति बहुलम् । तेन अन्तःकरणेन सीदन् अवसीदन् क्लिश्यमानः सः पूर्वोक्त इत्यर्थः नन्दः बुद्धस्य वैमात्रेयः सुगतं बुद्धम् तथा यथा भवान् आह तथा करिष्यामीति गिरा वाचा धृष्टं प्रगल्भं सोत्साहम्, क्रियाविशेषणम् इदम्, बभाषे उवाच उक्तवान् ॥३३॥

टि० : अनुकम्पकेन अनु √कम्प्+अक (ण्वुल्), तृतीया, ए०व० । तथागतेन यथा पुनरावृत्तिर्न भवति तथा तेन प्रकारेण गतः तेन, तथा सत्यं गतं ज्ञानं यस्य स तथागतः, तेन, तृतीया, ए०व० । तुलनीयं सर्वदर्शनसङ्ग्रहवचनम् इदम्--'यथागतास्ते मुनयः शिवां गतिं तथा गतिं सोऽपि गतस्तथागतः' । सुगतम् सु शोभनं गतं गमनं ज्ञानं वा अस्येति सः सुगतः तम्, द्वितीया, ए०व० । अकथितं च (पा० १।४।५१) । बभाषे √भाष्, लिट्, प्र०पु०, ए०व० । सीदन् √सद् (सीद्)+अत् (शतृ), प्रथमा, ए०व० ।

भा० :— सब प्राणियों के प्रति दयावान् बुद्ध के द्वारा ऐसा कहे हुए, हृदय से दुःखी उस नन्द ने बुद्ध को 'ऐसा ही करूँगा' यह अपनी वाणी से उत्साह के साथ (वचन) कहा ॥३३॥

Eng. Thus the Tathāgata who takes pity on all beings addressed him, and Nanda replied to the Blessed One, with bold voice but sinking heart, 'Very well'.

अथ प्रमादाच्च तमुज्जिहीर्षन्
मत्वागमस्यैव च पात्रभूतम् ।
प्रव्राजयानन्द शमाय नन्दम्
इत्यब्रवीन् मैत्रमना महर्षिः ॥३४॥

अन्व० : अथ तम् प्रमादात् च उज्जिहीर्षन् आगमस्य च पात्रभूतम् एव मत्वा मैत्रमनाः महर्षिः 'आनन्द नन्दं शमाय प्रव्राजय' इति अब्रवीत् ॥३४॥

टी० : अथ तदनन्तरम् तम् नन्दम् प्रमादात् अनवधानात् मोक्षं प्रति उपेक्षावृत्तेः च उज्जिहीर्षन् उद्धर्तुम् इच्छन् मोक्तुं वाञ्छन् आगमस्य शास्त्रज्ञानस्य च पात्रभूतम् भाजनभूतम् अधिकारिणम् एव मत्वा ज्ञात्वा मैत्रमनाः मित्रस्य भावः मैत्रम् मैत्रे मनो यस्य सः सुहृद् महर्षिः महान् ऋषिः बुद्धः इत्यर्थः, आनन्द भो आनन्द इति शिष्यनाम, नन्दम् नन्दनामानं मम वैमात्रेयं शमाय शान्तये शान्त्युपलब्धये इत्यर्थः प्रव्राजय प्रव्रज्यां ग्राहय प्रव्राजकधर्मे भिक्षुधर्मे दीक्षितं कुरु इति अब्रवीत् अवदत् ॥३४॥

टि० : उज्जिहीर्षन् उद√हृ+सन्+अत (शतृ), प्रथमा, ए०व० । प्रव्राजय प्र√व्रज्+णिच्, लोट्, म०पु०, ए०व० ।

भा०—तत्पश्चात् उस नन्द को प्रमाद से उबारने के लिये और (उसे) शास्त्रज्ञान का अधिकारी जानकर मैत्रीपूर्णहृदय वाले महर्षि (बुद्ध) ने कहा—'आनन्द ! नन्द को शान्ति के लिये भिक्षुधर्म में दीक्षित करो' ॥३४॥

Eng. Then the great Seer, with His heart full of benevolence, wishing to rescue him from the state of thoughtlessness and deeming him now to be vessel of knowledge, said 'Ānanda, initiate Nanda into the mendicant's life so as to bring him to tranquillity.'

नन्दं ततोऽन्तर्मनसा रुदन्तम्-
एहीति वैदेहमुनिर्जगाद ।
शनैस्ततस्तं समुपेत्य नन्दो
न प्रव्रजिष्याम्यहमित्युवाच ॥३५॥

अन्व० : ततः वैदेहमुनिः अन्तर्मनसा रुदन्तं नन्दम् जगाद—'एहि' इति । ततः नन्दः शनैः तम् समुपेत्य—'अहं न प्रव्रजिष्यामि' इति उवाच ॥३५॥

टी० : ततः तत्पश्चात् वैदेहमुनिः विदेहेषु भवः वैदेहः, वैदेहः च असौ मुनिः च, आनन्दः इत्यर्थः, अन्तर्मनसा अन्तर्हृदयेन रुदन्तम् दुःखम् अनुभवन्तम् इत्यर्थः नन्दम् बुद्धस्य विमातृजं भ्रातरम् जगाद उवाच अवदत्—एहि आगच्छ प्रव्रजितुम् इति शेषः इति । ततः तदनन्तरम् नन्दः शनैः मन्दमन्दम् तम् वैदेहमुनिम् आनन्दम् समुपेत्य उपगम्य प्राप्य—अहं न प्रव्रजिष्यामि परिव्रजिष्यामि परिव्राजकः संन्यासी भिक्षुर्वा न भविष्यामि इत्यर्थः इति उवाच उक्तवान् ॥३५॥

टि० : वैदेहः विदेहेषु भवः, विदेह+अ (अण्)। जगाद√गद 'व्यक्तायां वाचि' लिट्, प्र०पु०, ए०व० । एहि आ+इहि =√इ लोट्, म०पु०, ए०व० । समुपेत्य सम्+उप√इ+त् (तुक्)+य (ल्यप्) । प्रव्रजिष्यामि प्र√व्रज्+लृट्, उ०पु०, ए०व० । अन्तर्मनसा, अन्तर्गतं मनोऽन्तर्मनः, तेन । प्रकृत्यादित्वात् तृतीया ।

भा० : उसके पश्चात् वैदेहमुनि (आनन्द) ने मन ही मन में रोते हुए नन्द को कहा—'आइये' । तब नन्द ने धीरे से उसके पास जा कर कहा—'मैं प्रव्रज्या स्वीकार नहीं करूँगा' ॥३५॥

Eng. Then the Vaideha sage said to Nanda, who was weeping in his mind, 'Come hither'; then Nanda going slowly to him said, 'I will not become a mendicant'.

श्रुत्वाथ नन्दस्य मनीषितं तद्
बुद्धाय वैदेहमुनिः शशंस ।
संश्रुत्य तस्मादपि तस्य भावं
महामुनिर्नन्दमुवाच भूयः ॥३६॥

अन्व० : अथ तद् नन्दस्य मनीषितं श्रुत्वा वैदेहमुनिः बुद्धाय शशंस । तस्माद् अपि तस्य भावं संश्रुत्य महामुनिः नन्दम् भूयः उवाच ॥३६॥

टी० : अथ ततः तद् नन्दस्य मनीषितम् मनसः ईषितम् वाञ्छां मनोरथं श्रुत्वा निशम्य वैदेहमुनिः आनन्दः बुद्धाय शशंस बुद्धम् उवाच । तस्माद् आनन्दात् अपि तस्य नन्दस्य भावम् अभिप्रायम् संश्रुत्य श्रुत्वा महामुनिः बुद्धः नन्दम् नन्द-नामानं स्वं वैमात्रेयम् भूयः पुनः उवाच उक्तवान् अवदत् ॥३६॥

टि० : मनीषितम् मनस्+ईषा मनीषा । शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् (वा०) । मनीषा सञ्जाताऽस्येति मनीषितम् । शशंस √शंस्, लिट्, प्र०पु०, ए० व० । संश्रुत्य =सम् √श्रु+त् (तुक्)+य (ल्यप्) ।

भा० :—तत्पश्चात् नन्द की उस मनःकामना को सुनकर वैदेहमुनि (आनन्द) ने बुद्ध को कहा । उस (आनन्द) से भी उस (नन्द) के अभिप्राय को सुनकर महामुनि (बुद्ध) ने नन्द को पुनः कहा ॥३६॥

Eng. On this the Vaideha sage hearing Nanda's intention told it to the Buddha; the Great Sage, learning from him too about Nanda's state of mind, spoke to the latter again :—

मय्यग्रजे प्रव्रजितेऽजितात्मन्
भ्रातृष्वनुप्रव्रजितेषु चास्मान् ।
ज्ञातींश्च दृष्ट्वा व्रतिनो गृहस्थान्
संविन्नवित्तेऽस्ति न वास्ति चेतः ॥३७॥

अन्व० : अजितात्मन् ! मयि अग्रजे प्रव्रजिते, भ्रातृषु च अस्मान् अनु प्रव्रजितेषु, गृहस्थान् ज्ञातीन् च व्रतिनः दृष्ट्वा ते चेतः संविन्नवित् अस्ति, न वा अस्ति ?

टी० : अजितात्मन् न जितः वशे कृतः आत्मा स्वं मनो वा येन स अजितात्मा तत्सम्बुद्धौ अजितात्मन्, भोः असंयतात्मन् ! मयि अग्रजे मयि ज्येष्ठे भ्रातरि प्रव्रजिते प्रव्रज्यां प्राप्ते गृहं परित्यज्य भिक्षुवृत्तिं श्रितवति, भ्रातृषु च सोदर्येषु च अस्मान् अनु, माम् अनु, एकस्यार्थे बहुवचनम्, मम अनन्तरं प्रव्रजितेषु प्रव्रज्यां प्राप्तेषु, गृहस्थान् गृहे तिष्ठन्ति इति गृहस्थाः तान् ज्ञातीन् बान्धवान् 'सगोत्र-बान्धवज्ञातिबन्धुस्वस्वजनाः समाः' इत्यमरः (२।६।३४) । च व्रतिनः व्रतम् एषाम् अस्ति इति तान् नियमे स्थितान् दृष्ट्वा विलोक्य ते तव चेतः संविन्नविद् प्राप्तज्ञान-

मस्ति न वाऽस्ति इति कथयेति शेषः ॥३७॥

टि० : मयि अग्रजे प्रव्रजिते, भ्रातृषु प्रव्रजितेषु च इत्यत्र 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (पा० २।३।३७) इत्यनेन सप्तमी। —'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इत्यमरः (१।३।३१)। संविन्तवित् इति चेतोविशेषणम्। संविन्ना सम्यक् विन्ना प्राप्ता विद् ज्ञानं येन। विद्लृ लाभे इत्यतो निष्ठायां विन्नम् इति रूपम्।

भा० : हे आत्मा को न जीतने वाले, मुझ ज्येष्ठ भ्राता के प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर, और मेरा अनुकरण करके (अन्य) भाइयों के प्रव्रजित हो जाने पर, तथा गृहवासी बन्धुजनों को व्रतचारी देखकर क्या तेरे चित्त में ज्ञान हुआ है या नहीं हुआ है ॥३७॥

Eng. 'I, your elder, have become a mendicant, your brothers have followed Me in this and you see that our kinsfolk who have not left their homes have taken vows on themselves; are you, therefore, who have not conquered yourself, experiencing satisfaction in your mind or not ?

राजर्षयस्ते विदिता न नूनं
वनानि ये शिश्रियिरे हसन्तः।
निष्ठीव्य कामानुपशान्तिकामाः
कामेषु नैवं कृपणेषु सक्ताः ॥३८॥

अन्व० : ये राजर्षयः कामान् निष्ठीव्य कृपणेषु कामेषु एवं न सक्ताः (=अनासक्ताः) उपशान्तिकामाः हसन्तो वनानि शिश्रियिरे ते (ते) न विदिता नूनम् ॥३८॥

टी० : ये राजर्षयः ऋषितुल्या राजानः कामान् अभिलाषान् मनोरथान् निष्ठीव्य निरस्य परित्यज्य कृपणेषु मन्देषु क्षुद्रेषु कामेषु मनोरथेषु एवम् इत्थम् न सक्ताः अनासक्ता अननुरक्ताः उपशान्तिकामाः शान्तिरेव उपशान्तिः तां कामयन्त इति शान्तिम् इच्छन्तः हसन्तः शोकं विहाय मुदम् अनुभवन्तः वनानि काननानि शिश्रियिरे आश्रितवन्तः तपश्चर्यार्थम् मुदा वनं विविशुरित्यर्थः; ते पूर्वोक्ता राजर्षयः (ते तव) न विदिताः न ज्ञाताः नूनम् नियतम्। तान् राजर्षीन् न खलु वेत्थ, विस्मृतवान् असि इत्यर्थः ॥३८॥

टि० : राजर्षयः राजान ऋषय इव। उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोग (पा० २।१।५६) इत्युपमितपूर्वपदः कर्मधारयः। निष्ठीव्य इह निष्ठीव्यतेः निरसनार्थेऽतिरुचिरो गौणः प्रयोगः। प्रधानेऽर्थे तु जुगुप्सावहो भवति। शिश्रियिरे √श्रि, लिट्,

प्र०पु०, ब०व०। निष्ठीव्य नि √ष्ठिव् 'निरसने'+य (ल्यप्)। सक्ताः √सञ्ज् 'सङ्गे'+त (क्त), प्रथमा, ब०व०। 'नूनम् तर्के अर्थनिश्चये' इत्यमर. (३।३।२५१)।

भा० : जिन ऋषितुल्य राजाओं ने अभिलाषाओं का परित्याग करके, क्षुद्र कामनाओं में इस प्रकार अनासक्त होकर शान्ति की कामना करते हुए खुशी खुशी वन का आश्रय ले लिया, उनको निश्चय से तू नहीं जानता ॥३८॥

Eng. Surely you have forgotten about the royal seers, who joyfully adopted the forest life, spewing out the passions, passionate only for tranquillity and so not attached to the miserable passions.

भूयः समालोक्य गृहेषु दोषान्
निशाम्य तत् त्यागकृतं च शर्म ।
नैवास्ति मोक्तुं मतिरालयं ते
देहं मुमूर्षोरिव सोपसर्गम् ॥३९॥

अन्व० : भूयः गृहेषु दोषान् समालोक्य तत् त्यागकृतं शर्म च निशाम्य सोपसर्गं देहं (मोक्तुम्) मुमूर्षोः (मतिः) इव आलयम् मोक्तुं ते मतिः नैव अस्ति ॥३९॥

टी० : भूयः पुनश्च किञ्च, गृहेषु गृहवासे गृहस्थधर्मे इत्यर्थः दोषान् दूषणानि पापानि समालोक्य अवलोक्य विज्ञाय तत् पूर्वोक्तम् इत्यर्थः त्यागकृतं गृहत्यागेन कृतं प्राप्तम् शर्म श्रेयः कल्याणं भद्रं सुखम् च निशाम्य दृष्ट्वा विदित्वा अपि इति शेषः सोपसर्गम् उपसर्गेण उपद्रवेण व्याधिना सह वर्तमानः तं व्याधिग्रस्तम् देहं शरीरम् मोक्तुम् त्यक्तुं मुमूर्षोः मरिष्यतः मरणासन्नस्य जनस्य मतिः बुद्धिः इव यथा आलयम् गृहम् मोक्तुम् त्यक्तुं ते तव मतिः बुद्धिः नैवास्ति न जायते। उपमालङ्कारः ॥३९॥

---

39. *Ālaya* has also the second meaning of 'attachment' here. The last pāda is interesting as an early example of a method common in later kāvya. The emphasis comes on *sopasargam* by its position at the end of the verse; for ordinarily a dying man would have no wish to leave his country and the comparison seems absurd till we reach the final word which triumphantly rounds off the verse. For everyone wants to leave a plague-stricken country, except men at the point of death, who would naturally be obstinate in refusing to follow the course all men who still hope to live take. Proposed amendments such as of *deśaṁ* to *dehaṁ* are defective as leaving *sopasargam* without point; for a dying man is reluctant to leave his body at all and is not materially affected by the nature of the disease he is suffering from. —Johnston

टि० : गृहेषु गृह (पुं०) प्रथमा, ब० व०। समालोक्य सम्+आ√लोक् 'दर्शने'+य(ल्यप्)। निशाम्य नि+√शम्। शम (लक्ष) आलोचने। चुरादिः। नान्ये मितोऽहेतौ इति अमन्तत्त्वप्राप्तमित्संज्ञानिषेधः। नि√शम् णिच् ल्यप्= निशाम्य। मुमूर्षुः। आशङ्कायां सन्वक्तव्य इति सन्। मरणमस्याशङ्क्यत इति। भ्रष्टोऽत्र मूलपाठः। देशम् इत्यस्य स्थाने देहम् इति पठितव्यम्।

भा० : किञ्च, गृहस्थधर्म में दोषों को देखकर और (गृह-) त्याग से उत्पन्न उस सुख का विचार करके (भी) व्याधिग्रस्त देह को छोड़ने में मुमूर्षु जन की बुद्धि की तरह घर का परित्याग करने में तेरी बुद्धि नहीं हो रही है ॥३९॥

Eng. Again when you consider the evils of a householder's life and perceive the peace of mind to be gained by abandoning it, how can you refuse to leave your home? It is only the man at the point of death who would refuse to leave a plague-stricken country; why imitate him?

संसारकान्तारपरायणस्य
शिवे कथं ते पथि नारुरुक्षा।
आरोप्यमाणस्य तमेव मार्गं
भ्रष्टस्य सार्थादिव सार्थिकस्य ॥४०॥

अन्व० : सार्थात् भ्रष्टस्य (पुनश्च) तम् एव मार्गम् आरोप्यमाणस्य सार्थिकस्य इव संसारकान्तारपरायणस्य ते शिवे पथि आरुरुक्षा कथं न ॥४०॥

टी० : सार्थात् सरतो वणिक्समूहात् भ्रष्टस्य च्युतस्य (पुनश्च) तम् एव सार्थेन गृहीतम् एव इत्यर्थः मार्गम् पन्थानम् आरोप्यमाणस्य (मार्गे) प्राप्यमाणस्य सार्थिकस्य इव वणिजः इव संसारकान्तारपरायणस्य संसारः भवः संसरणं संसृतिः स एव कान्तारः काननम् महावनम् तत्परायणस्य (तस्मिन्) लीनस्य जन्ममृत्युरूपमहावने पथो भ्रष्टस्य इत्यर्थः शिवे मङ्गलमये पथि मार्गे ते तव आरुरुक्षा आरोढुम् इच्छा कथम् किमर्थम् न भवतीति शेषः। उपमालङ्कारः ॥४०॥

टि० : आरोप्यमाणस्य आ√रुह्+प् (पुक्)+इ(णिच्)+य (यक्)+मान (मुक्+शानच्), षष्ठी, ए०व०। संसारकान्तारपरायणस्य 'महारण्ये दुर्गपथे कान्तारः पुन्नपुंसकम्' इत्यमरः। संसारः कान्तारः परम् अयनं यस्य, तस्य। संसारमहावनमवगाहमानस्य। आरुरुक्षा आ √रुह्+स(सन्)+आ(टाप्), प्रथमा, ए०व०।

भा० : काफिले से बिछुड़े हुए (और पुनः) उसी मार्ग पर डाले जाते हुए वणिक् की तरह संसार रूपी महावन में भटके हुए की तेरी कल्याणमार्ग में आरूढ होने की इच्छा क्यों नहीं होती ॥४०॥

Eng. How can you be so devoted to the wilderness of the cycle of existence and not wish to take the holy way when your feet have been set on that very road? You are like a traveller separated from his caravan, who does not wish to take the right road, even when set on it.

यः सर्वतो वेश्मनि दह्यमाने
शयीत मोहान् न ततो व्यपेयात् ।
कालाग्निना व्याधिजराशिखेन
लोके प्रदीप्ते स भवेत् प्रमत्तः ॥४१॥

अन्व० : यः सर्वतो दह्यमाने वेश्मनि मोहात् शयीत ततः (च) न व्यपेयात्, व्याधिजराशिखेन कालाग्निना प्रदीप्ते लोके सः प्रमत्तः भवेत् ॥४१॥

टी० : यः जनः इति शेषः सर्वतः समन्तात् दह्यमाने भस्मसात्क्रियमाणे वेश्मनि गृहे मोहात् मौर्ख्यात् बालिश्यात् शयीत स्वप्यात् निद्राणः स्यात् इत्यर्थः; ततः तस्माद् गृहात् (च) न व्यपेयात् न अपगच्छेत्, गृहं त्यक्त्वा बहिर् न निष्क्रामेत्; व्याधिजराशिखेन व्याधिः रोगः जरा वार्धक्यं च ते शिखे यस्य तेन, रूपकालङ्कारः, रोगजरार्चिषा कालाग्निना कालः अन्तकालः प्रलयकालः तस्मिन् उत्थितोऽग्निः वह्निः तेन अन्तकालानलेन प्रदीप्ते समिद्धे ज्वालाजालैः दह्यमाने लोके जगति सः प्राकृतो जनः प्रमत्तः अनवधानः अदत्तावधानः भवेत् स्यात् ॥४१॥

टि० : दह्यमाने √दह् + य + शानच्, सप्तमी, ए०व० । शयीत √शी विधिलिङ्, प्र०पु०, ए०व० । व्यपेयात् वि + अप √इ, विधिलिङ्, प्र०पु०, ए०व० ।

भा० : जो सब ओर से जलते हुए घर में मूर्खता-वश सोता रहे और उसमें से न निकले, व्याधि और जरा रूपी शिखाओं वाली कालाग्नि के द्वारा प्रज्वलित लोक में वह असावधान रहेगा ॥४१॥

Eng. Only the man who would lie down to sleep in a house everywhere in flames and would be so stupid as not to leave it, would remain heedless in the world which is being burnt in the fire of Death with the flames of disease and old age.

प्रणीयमानश्च यथा वधाय
मत्तो हसेच्च प्रलपेच्च वध्यः ।
मृत्यौ तथा तिष्ठति पाशहस्ते
शोच्यः प्रमाद्यन् विपरीतचेताः ॥४२॥

अन्व० : यथा च वधाय प्रणीयमानः वध्यः मत्तः (भूत्वा) हसेत् च प्रलपेत् च तथा पाशहस्ते मृत्यौ तिष्ठति विपरीतचेताः प्रमाद्यन् शोच्यः भवति ॥४२॥

टी० : यथा येन प्रकारेण च वधाय वधार्थम् प्रणीयमानः नीयमानः, धात्वर्थम् एवानुवर्तते प्रः, वध्यः वधार्हः जनः इति शेषः मत्तः उन्मादवान् । उत्कटः मदोद्धतः इत्यक्षरार्थः । उन्मत्तो भूत्वा इत्यर्थः हसेत् च प्रलपेत् च हासरोदनादीः नाना क्रियाः कुर्यात् अनर्थकानि च वचांसि व्याहरेत्, तथा तेनैव प्रकारेण पाशहस्ते पाशः हस्ते करे यस्य सः पाशहस्तः तस्मिन् मृत्यौ यमे तिष्ठति उपतिष्ठति उपस्थिते सति विपरीतचेताः विपरीतबुद्धिः नष्टमतिः प्रमाद्यन् प्रमादम् उपदर्शयन् अनवधानताम् आचरन् शोच्यः शोचनीयः शोकार्हः भवति इति शेषः ।।४२।।

टि० : प्रणीयमानः प्र√नी+य(यक्)+शानच्, प्रथमा, ए०व० । वध्यः वधम् अर्हति इति—दण्डादिभ्यो यत् (पा०५।१।६६) वध+य(यत्), प्रथमा, ए०व० । मत्तः √मद्+त (कर्तरि क्त) । प्रमाद्यन् प्र√मद्+अत् (शतृ), प्रथमा, ए०व० । विपरीतचेताः विपरीतं चेतः यस्य सः (ब०व्री०), प्रथमा, ए०व० । शोच्यः शुच्+य (ण्यत्), प्रथमा, ए० व० ।

भा० : और जिस प्रकार वध के लिये ले जाया जाता हुआ वध के योग्य मनुष्य पागल हो कर हँसता है और प्रलाप करता है, उसी प्रकार पाश को हाथ में लिये मृत्यु के उपस्थित हो जाने पर प्रमाद करता हुआ विपरीतबुद्धि (मनुष्य) शोक के योग्य होता है ।।४२।।

Eng. That man must be deplored who, though Death stands over him with the fatal net, yet remains heedless and perverse in mind, like a man sentenced to death who is drunk and laughs and babbles on the way to the stake.

यदा नरेन्द्राश्च कुटुम्बिनश्च
विहाय बन्धूंश्च परिग्रहांश्च ।
ययुश्च यास्यन्ति च यान्ति चैव
प्रियेष्वनित्येषु कुतोऽनुरोधः ।।४३।।

अन्व०—यदा नरेन्द्राः च कुटुम्बिनः च बन्धून् च परिग्रहान् च विहाय ययुः च यान्ति च यास्यन्ति चैव, (तदा) अनित्येषु प्रियेषु अनुरोधः कुतः ।।४३।।

टी०—यदा नरेन्द्राः राजानः भूपतयः च, कुटुम्बिनः कुटुम्बं पोष्यवर्गोऽस्त्येषाम् ते गृहिणः गृहस्थाः गृहमेधिनः च, बन्धून् बान्धवान् ज्ञातीन् स्वान् च, परिग्रहान् दारान् कलत्राणि यद्वा परिजनं च, विहाय परित्यज्य ययुः अगच्छन् च, यान्ति गच्छन्ति च, यास्यन्ति गमिष्यन्ति चैव वनम् इति शेष इति जॉन्स्टन

43. It is also possible to take *yayuḥ*, and c. as mere auxiliaries to *vihāya*. —Johnston

महोदयः, (तत्र) अनित्येषु अध्रुवेषु, येषां मृत्युर्ध्रुवः तेषु प्रियेषु अभिन्नहृदयेषु भार्यामित्रादिषु अनुरोधः आसङ्गः आसक्तिः कुतः किमर्थम् भवितुम् अर्हति इति शेषः ।।४३।।

टि० :—विहाय वि√हा 'त्यागे'+य (ल्यप्)। ययुः √या लिट्, प्र० पु०, ब० व०। प्रीणातीति प्रियः। √प्री+क प्रत्ययः कर्तरि। बन्धुरेव बान्धवः स्वार्थेऽण्।

भा० :—जब राजा और गृहस्थ लोग बान्धवों को और नौकर-चाकरों को छोड़कर चले गए, जा रहे हैं और जाते रहेंगे, तब मरणधर्मा प्रियजनों में आसक्ति किस लिये ।।४३।।

Eng. Since kings and heads of houses have gone, are going and will go (to the forest), leaving their relations and possessions, why have so much regard for the fleeting union with your dear ones?

किञ्चिन्न पश्यामि रतस्य यत्र
तदन्यभावेन भवेन् न दुःखम् ।
तस्मात् क्वचिन् न क्षमते प्रसक्तिर्
यदि क्षमस्तद्विगमान् न शोकः ।।४४।।

अन्व० —किञ्चित् न पश्यामि यत्र रतस्य तदन्यभावेन दुःखम् न भवेत्। तस्मात् क्वचिद् (अपि) प्रसक्तिः न क्षमते, यदि क्षमः (स्यात्) तद्विगमात् शोकः न (स्यात्) ।।४४।।

टी०—किञ्चित् न पश्यामि इह लोके तत् किमपि वस्तुजातं मे दृष्टिपथं नागच्छति यत्र यस्मिन् रतस्य सक्तस्य आसक्तस्य जनस्येति शेषः तदन्यभावेन तस्य अन्यः भावः अन्यभाव्यम्, अन्यथात्वम्, परिवर्तः, विपरिणामः, तेन विपरिणामेन इत्यर्थः दुःखम् शोकः न भवेत् न जायेत। तस्मात् कारणाद् इति शेषः क्वचिद् (अपि) कुत्रापि प्रसक्तिः आसक्तिः रतिः न क्षमते न युज्यते न्याय्या नास्ति इत्यर्थः। यदि क्षमः (स्यात्) आसङ्गः युक्तः न्याय्यो वा स्याच्चेत् तद्विगमात् तस्य वियोगात् विच्छेदात् विरहात् शोकः क्लेशः दुःखं न (स्यात्) नोत्पद्येत न जायेत ।।४४।।

---

44. In *d* I read *yadā* for *yadi*. The latter, if correct, could be taken with either *c* or *d*, but neither gives an argument that is quite satisfactory in form. Law takes *c* and *d* as separate sentences, from which I find it impossible to extract good sense.

—Johnston

टि०—रतस्य √रम्+त (क्त), षष्ठी, ए० व०। प्रसक्तिः प्र√सञ्ज्+ति (क्तिन्), प्रथमा, ए० व०। क्षमू सहने इति भ्वादिः सकर्मकः। इह तु व्यवहारमुच्चरमाणोऽकर्मकत्वेन प्रयुङ्क्ते। क्षम इति पुंसि प्रयोगोऽपि विरुध्यते। पूर्वं प्रसक्तेः स्त्रीलिङ्गस्य प्रयोगात्। शोकः √शुच्+अ (घञ्), प्रथमा, ए० व०।

भा०—मुझे कोई ऐसी वस्तु नहीं दिखाई देती जिसमें आसक्त हुए मनुष्य को उसमें परिवर्तन के कारण दुःख प्राप्त न हो। इसलिये किसी भी वस्तु में आसक्ति उचित नहीं है। यदि उचित हो तो उसके वियोग से शोक उत्पन्न न हो ॥४४॥

Eng. I perceive nothing pleasurable in which by its change of state suffering might not arise. Seeing, therefore, that attachment to any object is out of place, it is equally out of place to grieve at its loss.

तत् सौम्य लोलं परिगम्य लोकं
मायोपमं चित्रमिवेन्द्रजालम्।
प्रियाभिधानं त्यज मोहजालं
छेत्तुं मतिस्ते यदि दुःखजालम् ॥४५॥

अन्व०—तत् सौम्य! लोकं लोलं मायोपमं चित्रम् इन्द्रजालम् इव (च) परिगम्य यदि ते मतिः दुःखजालं छेत्तुं (स्यात् तर्हि) प्रियाभिधानं मोहजालं त्यज ॥४५॥

टी०—तत् तस्मात् सौम्य भद्र लोकम् जगत् लोलम् चलम् अध्रुवम् मायोपमम् माया उपमा उपमानं यस्य तं मायातुल्यं चित्रम् विचित्रम् अद्भुतम् इन्द्रजालम् कुहकम् इव इत्युत्प्रेक्षायाम् (च) परिगम्य विज्ञाय विदित्वा यदि ते तव मतिः बुद्धिः दुःखजालम् दुःखानां क्लेशानां शोकानां जालं समूहं छेत्तुम् नाशयितुं स्यात् इति शेषः तर्हि प्रियाभिधानम् प्रिया भार्या अभिधानं नाम आख्या यस्य तत् जायाख्यम् मोहजालम् मोहस्य जालम् पाशम् यद् वा समूहम् इति जॉन्स्टनमहोदयः त्यज मुञ्च, परिहर ॥४५॥

टि०—परिगम्य अवगम्य। परि √गम्+य (ल्यप्)। छेत्तुम् √छिद्+तुम् (तुमुन्)।

भा०—इसलिए, हे भद्र, जगत् को चञ्चल, मायातुल्य और विचित्र इन्द्रजाल जानकर यदि तेरा विचार दुःखों के जाल को नष्ट करने का है तो पत्नी नामक मोहजाल को छोड़ दे ॥४५॥

---

45. *Jāla* in the second line might mean not 'net', 'snare', but 'mass'. —Johnston

Eng. So, my friend, understand this world to be unstable, a mere phantasmagoria, a magician's kaleidoscopic show. Abandon the snare of delusion, namely your mistress, if it is your intention to cut through the snare of suffering.

वरं हितोदर्कमनिष्टमन्नं
न स्वादु यत् स्यादहितानुबद्धम् ।
यस्मादहं त्वा विनियोजयामि
शिवे शुचौ वर्त्मनि विप्रियेऽपि ॥४६॥

अन्व०—हितोदर्कम् अनिष्टम् अन्नं वरम्, यत् अहितानुबद्धं स्यात् (तत्) स्वादु (अपि वरं) न । यस्मात् अहं त्वा विप्रिये अपि शिवे शुचौ वर्त्मनि विनियोजयामि ॥४६॥

टी०—हितोदर्कम् हितः मङ्गलः उदर्कः उत्तरं फलम् यस्य तत् कल्याण-परिणामम् अनिष्टम् अनभिलषितम् अरुचिविषयम्, यस्मै स्पृहा न वर्तते इत्यर्थः, अरुचिकरम्, अपि इति शेषः अन्नम् भोजनम् वरम् मनाक्प्रियम्, यत् अन्नम् इति शेषः अहितानुबद्धम् न हितम् अहितम् तेन अनुबद्धं अनुरुद्धम् संयुक्तं, अपथ्यम्, इत्यर्थः स्यात् भवेत्, तत् इति शेषः स्वादु स्वदनीयम् (अपि वरं मनाक्-प्रियम्) न नास्ति । यस्मात् तस्माद् इत्यर्थः अहम् बुद्धः इत्यर्थः त्वा त्वां नन्दम् विप्रिये अप्रिये सति इति शेषः अपि शिवे मङ्गले कल्याणे शुचौ पवित्रे पुण्यमये वर्त्मनि पथि मार्गे विनियोजयामि स्थापयामि आरोपयामि । काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः ॥४६॥

टि०—उदर्कः उद् √ ऋच्+अ (घञ्) । वर्त्मनि √ वृत्+मन् (मनिन्), सप्तमी, ए० व० । विनियोजयामि वि+नि √ युज्+णिच्, लट्, उ० पु०, ए० व० ।

भा०—मङ्गल परिणाम वाला अरुचिकर भोजन भी अच्छा है, जो (भोजन) परिणाम में दुःखद है (वह) स्वादु होते हुए भी हितकर नहीं होता । अतः मैं तुम्हें इस अप्रिय किन्तु मङ्गल और पवित्र मार्ग में लगा रहा हूँ ॥४६॥

Eng. It is better to take disagreeable food which ensures to one's good than savoury food which does not agree with one. Therefore I urge you to a way which, though unpleasant, is holy and pure.

बालस्य धात्री विनिगृह्य लोष्टं
यथोद्धरत्यास्यपुटप्रविष्टम् ।
तथोज्जिहीर्षुः खलु रागशल्यं
तत् त्वामवोचं परुषं हिताय ॥४७॥

47. For the simile cf. *Anguttara* III, 6. Johnston

अन्व०—यथा बालस्य धात्री (बालम्) विनिगृह्य आस्यपुटप्रविष्टं लोष्ट्म् उद्धरति, तथा (तव) हिताय रागशल्यम् उज्जिहीर्षुः (अहम्) त्वाम् तत् परुषम् अवोचम् खलु ।।४७।।

टी०—यथा येन प्रकारेण बालस्य बालकस्य शिशोः धात्री उपमाता (बालम् शिशुम्) विनिगृह्य भर्त्सयित्वा आस्यपुटप्रविष्टम् आस्यस्य मुखस्य पुटे बिले विवरे प्रविष्टम् लोष्टम् मृत्पिण्डम् मृत्तिकाखण्डम् दलम् (डली इति भाषायाम्) उद्धरति निस्सारयति निष्कासयति, तथा तेन प्रकारेण (तव) हिताय कल्याणाय मङ्गलाय रागशल्यम् रागः अनुरक्तिः प्रीतिः एव शल्यम् शङ्कुः तत् उज्जिहीर्षुः उद्धर्तुकामः त्वाम् नन्दम् इत्यर्थः तत् पूर्वोक्तम् इत्यर्थः परुषम् रूक्षम् अप्रियम् इति शेषः अवोचम् उक्तवान् अस्मि खलु नियतम् निश्चितम् ।।४७।।

टि०—विनिगृह्य वि+नि√ग्रह्+य (ल्यप्)। उज्जिहीर्षुः उद्√हृ+सन्+उ, प्रथमा, ए० व०। अवोचम् √ब्रू, लुङ्, उ० पु०, ए० व०। ब्रुवो वचिः। वच उम्।

भा०—जिस प्रकार बालक की धाया (बालक को) डाट डपट कर (उसके) मुख के विवर में पड़ी हुई मिट्टी की डली को बाहर निकाल देती है, उसी प्रकार (तेरे) हित के लिये रागरूपी कांटे को निकालने की इच्छा वाले मैंने तुझे निश्चय से वह कठोर वचन कहा ।।४७।।

Eng. Just as a child's nurse holds him firmly to pull out a clod of earth he has put in his mouth, so indeed is my wish to pull out the dart of passion. I have spoken to you harshly for your good.

अनिष्टमप्यौषधमातुराय
ददाति वैद्यश्च यथा निगृह्य ।
तद्वन् मयोक्तं प्रतिकूलमेतत्
तुभ्यं हितोदर्कमनुग्रहाय ।।४८।।

अन्व०—यथा च वैद्यः अनिष्टम् अपि औषधम् निगृह्य आतुराय ददाति, तद्वत् मया प्रतिकूलम् (परं) हितोदर्कम् एतत् (वचनम् तव) अनुग्रहाय तुभ्यम् उक्तम् ।।४८।।

टी०—यथा च येन प्रकारेण वैद्यः भिषक् अगदंकारः चिकित्सकः अनिष्टम् अनभिलषितम् अरुचिकरम् अस्वादु कटु इति यावत् अपि औषधम् भेषजम् अगदम् निगृह्य बलाद् गृहीत्वा आतुराय रोगिणे ददाति यच्छति, तद्वत् तथैव मया प्रतिकूलम् अरुचिकरम् अप्रियम् (परम्) हितोदर्कम् मङ्गलान्तम् कल्याणपरिणामम् एतत् इदम् वचनम् इति शेषः (ते) अनुग्रहाय अभ्युपपत्तये तवेति शेषः तुभ्यम् उक्तम् भणितम् उदीरितम् ।।४८।।

टि० —निगृह्य नि √ग्रह् + य (ल्यप्)। उक्तम् √ब्रू + त(क्त), प्रथमा, ए० व०। तुभ्यम् उक्तम्। क्रियाग्रहणमपि कर्तव्यम् इति सम्प्रदाने चतुर्थी।

भा०—और जिस प्रकार वैद्य कड़वी दवा को बलपूर्वक रोगी को दे देता है, उसी प्रकार मैंने अप्रिय (परन्तु) परिणाम में हितकर यह (वचन) (तेरे) अनुग्रह के लिये तुझे कहा ॥४८॥

Eng. Just as a doctor compels a patient to take medicine though it be disagreeable to taste, so though what I have told you is repellent to you, yet it is conducive to your good and is for your benefit.

तद् यावदेव क्षणसन्निपातो
न मृत्युरागच्छति यावदेव ।
यावद् वयो योगविधौ समर्थं
बुद्धिं कुरु श्रेयसि तावदेव ॥४९॥

अन्व०—तद् यावद् एव क्षणसन्निपातः, यावद् एव मृत्युः न आगच्छति, यावत् वयः योगविधौ समर्थम् तावद् एव श्रेयसि बुद्धिम् कुरु ॥४९॥

टी०—तद् तस्मात् यावद् एव यावन्तं कालम् एव क्षणसन्निपातः क्षणः अव्यापारः निर्व्यापारकालः अवसरः leisure इति आङ्गलभाषायाम् तस्य सन्निपातः आयः लाभः, यावन्तं कालं त्वं निरर्थकलौकिकव्यापारेभ्यो मुक्तोऽसि इत्यर्थः, यावदेव यावन्तं कालम् मृत्युः मरणम् अन्तकालः न आगच्छति नायाति, यावद् यावन्तं कालम् वयः अवस्था योगविधौ योगः चित्तवृत्तिनिरोधः तस्य विधौ साधनविधौ इत्यर्थः समर्थम् क्षमम् तावद् एव तावन्तं कालम् एव श्रेयसि कल्याणे श्रेयःप्राप्तौ इत्यर्थः बुद्धिम् मनः कुरु योजय इत्यर्थः ॥४९॥

टि०—क्षणसन्निपातः क्षणः निर्व्यापारकालः, अवसरः—कालविशेषेऽवसरे ऽव्यापारे पारतन्त्र्ये च। मध्ये तथोत्सवे च क्षणशब्दः कथ्यते सद्भिः ॥ इति हलायुधः, तस्य सन्निपातः लाभः।

भा०—इसलिये जब तक तुम्हारे पास (निर्व्यापार) समय है, जब तक अन्तकाल नहीं आ जाता और जब तक अवस्था योग की साधनविधि में समर्थ है। तब तक कल्याण की प्राप्ति में मन को लगा ले ॥४९॥

Eng. Devote your mind then to the highest good, so long as this favourable moment endures, so long as Death does not come to you and so long as your age permits you to carry out Yoga.'

इत्येवमुक्तः स विनायकेन
हितैषिणा कारुणिकेन नन्दः ।
कर्तास्मि सर्वं भगवन् वचस्ते
तथा यथाज्ञापयसीत्युवाच ॥५०॥

अन्व०—हितैषिणा कारुणिकेन विनायकेन इति एवम् उक्तः सः नन्दः—भगवन् यथा आज्ञापयसि सर्वं ते वचः तथा कर्तास्मि इति उवाच ॥५०॥

टी०—हितैषिणा हितम् इच्छतीति हितैषी, ताच्छील्ये णिनिः, तेन हितार्थिना, कारुणिकेन करुणा प्रयोजनं प्रयोजिका अस्य अस्तीति कारुणिकः तेन दयान्वितेन, विनायकेन विनायकः महात्मनो बुद्धस्य पठितेषु अष्टादशसु नामसु चतुर्दशं नाम (अमर० १।१।१३-१४) तेन इत्येवम् इत्थम् उक्तः सम्बोधितः सन् सः असौ नन्दः बुद्धस्य वैमात्रेयः—भगवन् महाराज यथा आज्ञापयसि उपदिशसि सर्वम् अखिलं सकलं ते तव वचः वचनम् तथा कर्तास्मि करिष्यामि इति उवाच प्रत्युवाच उक्तवान् ॥५०॥

टि०—आज्ञापयसि √ ज्ञा नियोगे । आ √ज्ञा + णिच्, लट्, म० पु०, ए० व० । कर्तास्मि √कृ, लुट्, उ० पु०, ए० व० ।

भगोऽस्त्यस्येति भगवान् । भग इति षडर्थानाह । ते च श्लोकबद्धा इह दीयन्ते— ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ।

भा० —हितैषी, दयावान् विनायक (= बुद्ध) के द्वारा इस प्रकार सम्बोधित किये हुए उस नन्द ने—'भगवन् ! जैसे आप कहते हैं मैं आपकी समस्त आज्ञा का उसी प्रकार पालन करूंगा' ऐसा कहा ॥५०॥

Eng. Thus the Teacher, the Benevolent and Compassionate One, addressed Nanda, who said, 'I shall do, Lord all Thou sayest in accordance with Thy commands.'

आदाय वैदेहमुनिस्ततस्तं
निनाय संश्लिष्य विचेष्टमानम् ।
व्ययोजयच्चाश्रुपरिप्लुताक्षं
केशश्रियं छत्रनिभस्य मूर्ध्नः ॥५१॥

---

51. The seat of Śrī, the royal Fortune, is the royal umbrella; also when his head was shaved, the smooth scalp was like the smooth exterior of an umbrella. —Johnston

अन्व०—वैदेहमुनिः विचेष्टमानम् अश्रुपरिप्लुताक्षं तं संश्लिष्य आदाय (च) ततः निनाय, छत्रनिभस्य (तस्य) मूर्ध्नः केश-श्रियं व्ययोजयत् च ॥५१॥

टी०—वैदेहमुनि विदेहेषु भवः वैदेहः मुनिः आनन्दः विचेष्टमानम् नाना चेष्टाः कुर्वन्तम् अश्रुपरिप्लुताक्षम् अश्रुभिः बाष्पैः परिप्लुते परिपूर्णे अक्षिणी यस्य तम् बाष्पाकुलनयनम् तम् नन्दम् इत्यर्थः संश्लिष्य परिष्वज्य आलिङ्ग्य आदाय गृहीत्वा च ततः तस्मात् स्थानात् निनाय अनयत् अन्यत्र इति शेषः, छत्रनिभस्य आतपत्रसदृशस्य (तस्य) मूर्ध्नः शिरसः केशश्रियम् केशानां बालानां श्रियं शोभां व्ययोजयत् निरासयत् अपाकारयत् च, तम् अमुण्डयद् इत्यर्थः ॥५१॥

टि०—संश्लिष्य सम् √श्लिष् 'आलिङ्गने'+य (ल्यप्)। आदाय आ √दा+य (ल्यप्)। निनाय √नी 'प्रापणे', लिट्, प्र० पु०, ए० व०। व्ययोजयत् वि√युज्+णिच्, लङ्, प्र० पु०, ए० व०। छत्रनिभस्य छत्रेण सदृशः छत्रनिभः (मूर्धा) तस्य। अस्वपदविग्रहस्तृतीयातत्पुरुषः। निभसंकाशनीकाशप्रतीकाशोपमादयः। स्युरुत्तरपदे त्वमी—इत्यमरः।

भा०—वैदेहमुनि (आनन्द) उस छटपटाते हुए (और) आंसुओं से भरी हुई आंखों वाले को छाती से लगाकर (और) पकड़ कर वहाँ से ले गया, और उसके छत्रसदृश सिर के केशों की शोभा को हटवा दिया ॥५१॥

Eng. Then the sage of Videha, taking him, kept hold of him and led him off despite his reluctance, and had the Good Fortune of his beautiful hair parted from the royal umbrella of his head; and all the while his eyes overflowed with tears.

अथो नतं तस्य मुखं सबाष्पं
प्रवास्यमानेषु शिरोरुहेषु।
वक्राग्रनालं नलिनं तडागे
वर्षोदकक्लिन्नमिवाबभासे ॥५२॥

अन्व०—अथो शिरोरुहेषु प्रवास्यमानेषु नतं सबाष्पं तस्य मुखं तडागे वक्राग्रनालं वर्षोदकक्लिन्नं नलिनम् इव आबभासे ॥५२॥

टी०—अथो तदनन्तरम् शिरोरुहेषु केशेषु प्रवास्यमानेषु छिद्यमानेषु उप्यमानेषु नतम् प्रह्वीभूतम् सबाष्पम् बाष्पैः सह वर्तमानम् निपतद्भिः अश्रुभिः सिक्तं तस्य नन्दस्येत्यर्थः मुखम् वदनम् आननम् आस्यम् तडागे जलाशये सरसि वक्राग्रनालम् वक्रम् वङ्कम् भुग्नम् अवनतम् अग्रनालम् नालाग्रम् नालस्य अग्रम् उपरिभागः यस्य तत् अवनतदण्डिकोपरिभागम् वर्षोदकक्लिन्नम् वर्षस्य वृष्टेः उदकानि जलानि तैः क्लिन्नम् आर्द्रीभूतम् वर्षजलार्द्रम् नलिनम् पङ्कजं कमलम् इव यथा आबभासे आ समन्तात् बभासे बभौ शुशुभे। पूर्णोपमालङ्कारः, लक्षणं च तस्य—सा पूर्णा

यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च। उपमेयं चोपमानं भवेद् वाच्यम् (सा० द० १०।१५) ॥५२॥

टि०—प्रवास्यमानेषु प्र√वस् 'स्नेहच्छेदापहरणेषु' (चुरादौ उभयपदी धातुः)+य (यक् कर्मणि)+शानच्, सप्तमी, ब० व०। शिरोरुहेषु शिरसि रोहति इति शिरोरुहः शिरस् √रुह्+अ, सप्तमी, ब० व०। आबभासे आ √भास्, लिट्, प्र० पु०, ए० व०।

भा०—तत्पश्चात्, बालों के कटवाए जाते हुए, झुका हुआ (और) अश्रुपरिपूर्ण उसका मुख तालाब में नाल के टेढ़े उपरिभाग वाले, वर्षा के जल से भीगे हुए, कमल की तरह शोभायमान हो रहा था ॥५२॥

Eng.—So his face, covered with tears and bowed down while his hair was being banished, resembled a lotus in a pond with the top of its stalk bent when it is being soaked with rainwater.

नन्दस्ततस्तरुकषायविरक्तवासाश्
चिन्तावशो नवगृहीत इव द्विपेन्द्रः।
पूर्णः शशी बहुलपक्षगतः क्षपान्ते
बालातपेन परिषिक्त इवाबभासे ॥५३॥

अन्व०—ततः तरुकषायविरक्तवासाः, नवगृहीतः द्विपेन्द्रः इव चिन्तावशः, नन्दः क्षपान्ते बालातपेन परिषिक्तः बहुलपक्षगतः पूर्णः शशी इव आबभासे ॥५३॥

टी०—ततः तत्पश्चात् तरुकषायविरक्तवासाः तरोः कषायः वल्कलरसः तेन विरक्तम् सुलोहितवर्णम् वासः वस्त्रम् यस्य सः द्रुमनिर्यासरक्तवसनः, नवगृहीतः नवं यथास्यात्तथा गृहीतः सद्यः वशे कृतः इत्यर्थः द्विपेन्द्रः गजराजः इव यथा चिन्तावशः चिन्तानिमग्नः नन्दः सुन्दरीपतिः क्षपान्ते क्षपायाः निशायाः रात्रेः अन्ते अवसाने बालातपेन बालः नवजातः आतपः रविप्रकाशः सूर्यालोकः तेन परिषिक्तः परितः सिक्तः अभिवृष्टः आक्रान्तः इत्यर्थः बहुलपक्षगतः बहुलपक्षः कृष्णपक्षः तम् गतः प्रविष्टः पूर्णः षोडशकलासम्पन्नः शशी चन्द्रः इव यथा आबभासे आ समन्तात् बभासे बभौ अशोभत। उपमालङ्कारः। सर्गावसानभूतेऽस्मिन् पद्ये वसन्ततिलकावृत्तम् ॥५३॥

टि०—द्विपेन्द्रः द्वाभ्याम्, करेण च मुखेन च, पिबन्ति, इति द्विपाः गजाः तेषाम् इन्द्रः स्वामी राजा, गजराजः।

नवगृहीतः—नवं यथा गृहीतः। सुप्सुपा समासः।

---

53. In *a* LVP suggests *tanukṣāya* as possible. —Johnston

पद्यानुक्रमणी

पद्य	संख्या
अथ प्रमादाच्च तमुज्जिहीर्षन्	३४
अथावतीर्याश्वरथद्विपेभ्यः	१
अथो नतं तस्य मुखं सबाष्पम्	५२
अथो महद्भिः पथि संपतद्भिः	४
अनिष्टमप्यौषधमातुराय	४८
अयत्नतो हेतुबलाधिकस्तु	१७
अवश्यभावी प्रियविप्रयोगः	२९
आदाय वैदेहमुनिस्ततस्तम्	५१
आस्थाय योगं परिगम्य तत्त्वम्	३२
इत्येवमुक्तः प्रणतेन तेन	१०
इत्येवमुक्तः स तथागतेन	३३
इत्येवमुक्तः स विनायकेन	५०
किञ्चिन्न पश्यामि रतस्य यत्र	४४
केचित् प्रणम्यानुययुर्मुहूर्तम्	२
जरासमा नास्त्यमृजा प्रजानाम्	२७
ततः स कृत्वा मुनये प्रणामम्	११
ततः स लोके ददतः फलार्थम्	१२
ततो मुनिस्तं प्रियमाल्यहारम्	२०
ततो विविक्तं च विविक्तचेताः	६
तत्साधु साधुप्रिय मत्प्रियार्थम्	९
तत्सौम्य लोलं परिगम्य लोकम्	४५
तद्यावदेव क्षणसंनिपातः	४९
तन्निश्चितभीक्लमशुग्वियुक्तम्	२६
दीनं महा कारुणिकस्ततस्तम्	२१
नन्दं ततोऽन्तर्मनसा रुदन्तम्	३५
नन्दस्ततस्तरुकषायविरक्तवासाः	५३
नन्दस्तु दुःखेन विचेष्टमानः	१९
नन्दः स च प्रत्ययनेयचेताः	१८
निर्मोक्षबीजं हि ददर्श तस्य	१५
पराङ्मुखस्त्वन्यमनस्कमारात्	१३
प्रज्ञामयं वर्म बधान तस्मात्	३०
प्रणीयमानश्च यथा वधाय	४२
प्रासादसंस्थो भगवन्तमन्तः	८
बालस्य धात्री विनिगृह्य लोष्टम्	४७
बुद्धस्ततस्तत्र नरेन्द्रमार्गे	३
भार्यानुरागेण यथा गृहं सः	१४
भूयः समालोक्य गृहेषु दोषान्	३९
मय्यग्रजे प्रव्रजितेऽजितात्मन्	३७
यः सर्वतो वेश्मनि दह्यमाने	४१
यथौषधैर्हस्तगतैः सविद्यः	३१
यदा नरेन्द्राश्च कुटुम्बिनश्च	४३
यावन्न हिंस्रः समुपैति कालः	२२
राजर्षयस्ते विदिता न नूनम्	३८
वरं हितोदर्कमनिष्टमन्नम्	४६
शनैर्व्रजन्नेव स गौरवेण	७
श्रद्धाधनं श्रेष्ठतमं धनेभ्यः	२४
श्रुत्वाथ नन्दस्य मनीषितं तत्	३६
संक्लेशपक्षो द्विविधश्च दृष्टः	१६
संसारकान्तारपरायणस्य	४०
साधारणात् स्वप्ननिभादसारात्	२३
स्नेहेन कश्चिन्न समोऽस्ति पाशः	२८
स्वं चावसङ्गं पथि निर्मुमुक्षुः	५
हितस्य वक्ता प्रवरः सुहृद्भ्यः	२५

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्धपाठ	शुद्धपाठ
३७	२४	पुनराचकर्प	पुनराचकर्ष
४६	५	चतुर्थी	सप्तमी
	१३	स चेत्	सचेत्
४७	११	व्यवहारिणः च महापर्णेभ्यः	व्यवहारिणः च महापर्णेभ्यः
५३	७-८	गृहस्य भृत्येभ्यः इति शेषः । निवासस्थानभूतस्य प्रासादस्य	गृहस्य निवासस्थानभूतस्य प्रासादस्य भृत्येभ्यः इति शेषः ।
	३१	सम्पग्रूपेण	सम्यग्रूपेण
५४	२९	इत्यस्य प्रयोगः । धातोः	इत्यस्य धातोः
	३०	विवेदेति	विवेदेति प्रयोगः
		लिटि वा रूपम्	लिटि रूपम्
५५	१८	उसको	उसके
५७	२	मनुपतति	अनुपतति
५८	११	दुःखहेतुः	दुःखहेतुम्
५९	७	स्वम्	स्वम्
	१५	व्यवधानम्	व्यवदानम्
६१	२९	विशेषकम् आसीद्	विशेषकम् आर्द्रमेव आसीद
	३०	आर्द्रविशेषकम् एव	आर्द्रविशेषकम् मुखम् एव
६२	१९	अभि	अ
६३	५	सञ्जातकरुणा	सञ्जातकरुणः
	७	तत्तलं चक्राङ्काम् रथाङ्गचिह्न-युक्तेन इत्यर्थः चक्राङ्क तलं यस्य तेन	तत्तलं चक्राङ्कम्, चक्राङ्कं तलं यस्य, तेन रथाङ्गचिह्नयुक्तेन इत्यर्थः
६४	२७	क्रामः	कामैः

Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya * Bharatiya Vidya

Bharatiya Vidya Bhawan's Sri Sankaracharya Sanskrit Mahavidyalaya

E.B.L. Oriental Series:

1. MUSIC SYSTEMS IN INDIA (A Comparative study of some of the leading music systems of the 15th, 16th, 17th & 18th centuries) 1984—V.N. Bhatkhande 45.00
2. SĀṀKHYA-YOGA EPISTEMOLOGY (1984)—Shiv Kumar 85.00
3. PROBLEM OF RELATIONS IN INDIAN PHILOSOPHY —Dr. Sarita Gupta (1984) 50.00
4. बृहत्त्रयी—एक तुलनात्मक अध्ययन (किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधीयचरित के कथावस्तु, नायक एवं रस पर आधारित)—डा० सुषमा कुलश्रेष्ठ (१९८३) 150.00
5. MAHĀBHĀGAVATA PURĀṆA (An Ancient Treatise on ŚAKTI CULT, Upa-Purāṇa) Text in Devanāgarī with Critical Introduction in Eng. & Index—Dr. Pushpendra Kumar (1983) 140.00
6. KṚṢṆA-KĀVYA IN SANSKRIT LITERATURE (With special reference to Śrīkṛṣṇavijaya, Rukmiṇikalyāṇa and Harivilāsa)—Dr. Raj Kumari Kubba (1982) 60.00
7. SĀṀKHYA THOUGHT IN THE BRAHMANICAL SYSTEMS OF INDIAN PHILOSOPHY —Dr. Shiv Kumar (1983) 150.00
8. YOGA-KARṆIKĀ OF NATH AGHORANANDA (An Ancient Treatise on Yoga, Sanskrit Text, English Introduction and Index—Ed. Dr. N.N. Sharma (1981) 50 00
9. TANTRAS : Their Philosophy and Occult Secrets —D.N. Bose and H L. Haladar (1981) 40.00
10. ŚYAINIKA ŚĀSTRAM (The Art of Hunting in Ancient India)—Ed. Dr. Mohan Chand (1982) 70 00
11. GARHWAL HIMALAYAS : AHistorical Survey (Political and Administrative History of Garhwal 1815-1947)—Dr. Ajay Singh Rawat (1983) 60.00
12. JAINA THEORIES OF REALITY AND KNOWLEDGE Dr. Umrao Singh BIST 35.00
13. महाकवि ज्ञानसागर के काव्य एक अध्ययन —डॉ० किरण टण्डन (१९८४) 160.00
14. चमत्कार: (संस्कृत नाटक संग्रह:)—डॉ० कृष्णलाल (१९८५) (प्रेस)
15. (प्रह्लाद-स्मारक) वैदिक-व्याख्यान-माला—सं० डॉ० कृष्णलाल (१९८२) २५.००
16. मेनकाविश्वामित्रम् (संस्कृत नाटक)—डॉ० हरिनारायण दीक्षित (१९८५) ४०.००

Please mail your order to :

Eastern Book Linkers

(INDOLOGICAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS)
5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
DELHI-110007